श्री जिनदत्तसूरि ज्ञानमाला—पुष्प-२०

श्री सद्गुरुभ्योनमः

अध्यात्म कल्पद्रुम सार

(मूल—श्री मुनिसुन्दरसूरि कृत)

[गुजराती में विस्तार से विवेचन करने वाले
स्व० श्री मोतीचन्द गिरधरलाल कापडीया
के आधार पर हिन्दी में सार]

लेखक :

हरिश्चन्द धाड़ीवाल

प्रकाशक :

श्री जिनदत्तसूरि मण्डल

दादावाड़ी, अजमेर (राजस्थान)

समर्पण

आतुर ज्ञान तृषा को जाग्रत करे, पुष्ट करे और वृद्धि करे उन सब जिज्ञासुओं को ।

श्री सद्गुरुभ्यो नमः

प्राक्कथन

इस पंचम काल में जैन तीर्थंकर अथवा केवली नहीं होते। अत: ऐसे विषम काल में जैन धर्म को स्थिर रखने का श्रेय आचार्य महाराजों को है। अतएव नमस्कार मन्त्र में तीसरे पद "नमो आयरियाणं" में आचार्य महाराज को नमस्कार किया है। ये आचार्य महाराज अपने समय के आध्यात्मिक पुरुषों में विशिष्ट ज्ञानवान्, विद्वत्ता में उत्तम कोटि पर स्थित, परम त्यागी तथा समस्त प्राणियों का हित चाहने वाले होते हैं। ये त्यागी साधु महात्मा आचार्य लोक-प्रसिद्धि नहीं चाहते थे। इसलिये इनके विषय में जानकारी बहुत कम है। यही बात हमारे 'अध्यात्म कल्पद्रुम' के रचयिता श्री मुनि सुन्दरसूरिजी के विषय में भी है। अतएव वे किस समय में हुए, उनके समय में साधु तथा जैन समाज या जैन धर्म की क्या परिस्थिति थी इसकी जानकारी बहुत कम है। जो कुछ मिलती भी है वह बहुत कुछ कल्पना मात्र है। मुनि सुन्दरसूरिजी का जन्म सम्वत् १४३६ (सन् १३८०) में हुआ था। परन्तु इनके माता-पिता कौन थे ? कहाँ के रहने वाले थे ? इस विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं। सं० १४४३ में जब ये अपनी आयु के सप्तम वर्ष में अवतीर्ण हो रहे थे, दीक्षा ली। परन्तु ये मुनि महाराज आचार्य श्री सोमसुन्दरसूरि के पट्ट पर विराजे, इसलिये इन्हें सोम-सुन्दरसूरि महाराज का शिष्य मानते हैं। मुनि सुन्दरसूरि महाराज को विक्रम सं० १४६६ में वाचक पदवी (उपाध्याय) दी। इस समय सोमसुन्दरसूरि गच्छाधिपति थे। इनके छै शिष्य थे, जो बड़े विद्वान् थे। उन सबको भी 'सूरि' पद से अलंकृत किया गया था। मुनि सुन्दरसूरि महाराज को संस्कृत बोलने की अद्भुत शक्ति, तत्काल कविता रचने की प्रतिभा तथा सहस्त्रावधानिता की विस्मयकारिणी पटुता आदि अनेक गुणों के कारण सं० १४७८ में बड़ी धूमधाम से

मैंने इस ग्रन्थ के भाषान्तर करने में गुजराती अनुवाद का अनुसरण किया है क्योंकि गुजराती संस्करण एक विद्यावान् और धर्मज्ञ का लिखा हुआ है। प्रस्तुत पुस्तक के सम्बन्ध में कुछ परिचयात्मक बातें पाठकों के समक्ष रखना उचित समझता हूँ। यह ग्रन्थ साधु समाज को दृष्टि में रखकर लिखा गया है। साधारण गृहस्थीजन इतना त्याग नहीं कर सकते। संत महात्माओं को अनेक बातों का ध्यान रखना पड़ता है और समाज के प्रति अनेक प्रकार के कर्तव्य निभाने पड़ते हैं। वे यदि ऐसा नहीं करें तो समाज तथा धर्म का पतन हो जाय। पर वास्तव में सद्‌गृहस्थ ही साधु-महात्माओं तथा धर्म की जड़ हैं। इन गृहस्थियों की ही सहायता से धर्म संस्थाएँ आज भी स्थित हैं। इस ग्रन्थ में सोलह अध्याय हैं। ये सब बहुत मनन करने योग्य हैं।

पहला अध्याय:—इसमें समता रखने का उपदेश है। संसार में सब जीव सुख की इच्छा रखते हैं। सुख प्राप्त करने के लिए वे अनेक उपाय करते हैं और साधनाओं में सफल होकर सुख का अनुभव करते हैं। सुख को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। कुछ सुख स्थायी होते हैं और कुछ अस्थायी। जो सुख समता बुद्धि प्राप्त करने वाले प्रसव के अनुकूल होते हैं वह स्थायी कहलाता है। ऐसे सुख का अनुभव इस लोक में तो होता ही है परन्तु परलोक में भी इसका अनुभव होता है। अस्थायी सुख वह है जिसका कुछ काल पश्चात् अन्त हो जाता है। विषयों में आसक्ति या उनके उपयोग से जो सुख पैदा होता है उसका परिणाम दुःख होता है।

दूसरा अध्याय:—इसका विषय है स्त्री-ममत्व मोचन। इस अध्याय में स्त्री समाज का बहुत अनुचित शब्दों में वर्णन किया है। वास्तव में देखा जाय तो स्त्रियाँ चरित्र की दृष्टि से मनुष्यों की अपेक्षा कहीं अधिक उत्तम व संयम, सदाचार, जप, तप, व्रत में तत्पर रही हैं। वस्तुतः भारत की महिलाओं ने ही धर्म एवं संस्कारों की मर्यादा की रक्षा की है। फिर भी इनको इतना दूषित बताने का कारण क्या है? पक्षपात रहित होकर विचारने की आवश्यकता है। प्रकृति ने पुरुष को स्त्री जाति से शारीरिक और मानसिक शक्ति की

तुलना में अधिक शक्तिशाली, कार्यशील और दृढ़ मनोवृत्ति वाला बनाया है। प्राचीन काल से आज तक स्त्रियाँ प्रायः मनुष्यों का अनुगमन करती आई हैं। अतः मनुष्य स्त्रियों का स्वामी बना हुआ है। मनुष्य के स्वभाव में कुछ कटुता, गर्व या अहंभाव होता है। इसलिये अपने को सशक्त बताने के लिये स्त्रियों के चरित्र के प्रति दूषित भावनाएँ रखता है। गृहस्थी पुरुषों को अपनी वास्तविक परिस्थिति समझनी चाहिये और अपने कर्त्तव्य को समझना चाहिये। यदि वे अपनी स्त्रियों को विष-बेल अथवा गले की घण्टी समझ कर तिरस्कार करेंगे तो बड़ा अनर्थ हो जायगा। समाज कभी भी उन्नति के पथ का यात्री नहीं बन सकेगा।

तीसरा अध्यायः—इसमें सन्तान के प्रति ममत्व करना चाहिये या नहीं इस विषय पर उपदेशरूप में लिखा गया है। यदि सन्तान से ममत्व त्याग दिया जाय और उसकी भलाई बुराई से उदासीन वृत्ति रखी जाय तो सन्तान का अधःपतन हो जायगा, उसको न धर्म का ज्ञान होगा और न उसमें मनुष्यत्व ही पैदा हो सकेगा। वह सर्वत्र पशु समान ही व्यवहार करेगा, जिसका परिणाम होगा धर्म का नाश। इसलिये गृहस्थी पुरुष को सावधान रहते हुए अपने कर्त्तव्य का ध्यान रख कर वर्ताव करना चाहिये। परिवार के सभी प्यारे अंगों से चाहे वह पत्नी हो या पुत्र उचित प्रेम रखना चाहिये। यहाँ यह समझने की बड़ी आवश्यकता है कि उनके प्रेम में अन्धा नहीं हो जाना चाहिये। विद्वानों ने प्रेम को दो रूपों में देखा है एक प्रशस्त और दूसरा अप्रशस्त। प्रशस्त प्रेम कल्याणकारी होता है। प्रशस्त प्रेम से, जो तथा सन्तान में अनेक सद्गुण पैदा होते हैं। वे कुमार्ग में जाने से बचते हैं, उनका चरित्र सुधरता है। उनको नये मार्ग पर चलने की प्रेरणा मिलती है। यही प्रशस्त प्रेम धर्म का स्वरूप है जो मोक्ष-प्राप्ति का भी सहायक बन जाता है। अप्रशस्त प्रेम तो सदा हानिकारक है, अतः वह सर्वदा त्याज्य है।

चौथा अध्याय :—यहाँ धन के विषय में बताया गया है और शिक्षा दी है कि धर्म के पीछे पागल नहीं होना चाहिये। जो धन सत्य, न्याय या ईमानदारी से प्राप्त हो उसी में संतोष रखना चाहिये। धन

प्राप्ति के लिये गृहस्थियों को आलस्य त्याग कर उद्यम करना चाहिये, प्राप्त किये धन को धर्म तथा शुभ कामों में लगाना चाहिये। धन के मालिक बनना चाहिये, गुलाम नहीं। धन कमाने, भविष्य के लिये बचाने या रक्षा करने में प्रायः पुरुष उचित और अनुचित भावों को भूल जाता है। उन्हें न धर्म की स्मृति रहती है न अपने स्वास्थ्य का ध्यान रहता है। ऐसे लोगों को धन का गुलाम कहा जाता है। उनका अधःपतन अवश्यम्भावी है। जो धन न्याय पूर्वक प्राप्त होता है और जिसका उपयोग, परोपकार या धार्मिक कार्यों में होता हो वही सफल है। इसके अतिरिक्त सब धन पाप का हेतु है।

पाँचवां अध्याय :—यह देह के ममत्व पर लिखा गया है। इसका सार यह है देह के प्रति इतना ममत्व नहीं रखना चाहिये कि उसको भक्ष्य अभक्ष्य आदि खिला कर पुष्ट करें और इतना कोमल बना दें कि वह थोड़ा भी कष्ट सहन न कर सके। उसे व्रत उपवास आदि कर के इतना कमजोर भी नहीं बनाना चाहिये कि हर काम में बाधा उत्पन्न हो। जो भी धर्म कार्य किया जाता है वह स्वस्थ देह के बिना नहीं हो सकता। इसलिए शरीर के स्वास्थ्य के प्रति उदासीन नहीं रहना चाहिये। शरीर को एक प्रकार का किराये का मकान समझना चाहिये। जिस प्रकार एक उत्तम पुरुष किराये के मकान को सदा साफ सुथरा और सही हालत में रखता है परन्तु उसका मकान पर ममत्व नहीं होता उसी प्रकार देह का इस प्रकार पोषण करना चाहिये कि वह स्वच्छ, पवित्र और स्वस्थ रहे जिससे वह भली भाँति धर्म कार्य कर सके।

छठा अध्याय :—यह प्रमाद विषय पर लिखा गया है। पिछले अध्यायों में स्त्री, धन, पुत्र और शरीर के मोह-त्याग को बाह्य त्याग बताया था अब अन्तरंग त्याग का विवेचन करते हैं। विषय, कषाय और प्रमाद का त्याग अन्तरंग त्याग है। जैन परिभाषा के अनुसार प्रमाद शब्द का अर्थ बहुत व्यापक है। इसमें पाँचों इन्द्रियों के विषय, कषाय, विकथा, निद्रा और मद आदि का समावेश होता है। इस अध्याय में पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त विषयों के त्याग के उपदेश का वर्णन है। इन्द्रियों के द्वारा भोगे जाते हुए सभी विषय बड़े सुन्दर, रोचक और आनन्द दायक लगते हैं, पर परिणाम में सदा कष्ट दायक सिद्ध होते हैं।

यहाँ तक कि इन विषयों के फंदों में फँस कर मनुष्य बेईमान हो जाता है। वह ऐसे बुरे कर्मों में फँस जाता है कि उसे मृत्यु के पश्चात् नरक में जाना पड़ता है।

सातवाँ अध्याय :—यहाँ 'कषाय-त्याग' पर बल दिया है। कषाय में क्रोध, मान, माया, लोभ आदि का समावेश होता है। ये सब वस्तुएँ प्रत्यक्ष में हानिकारक हैं। कषाय से सुकृत का नाश होता है। मान बड़े-बड़े बाहुबली का भी ज्ञान नष्ट कर देता है। लोभ के कारण सीता का अपहरण प्रसिद्ध है। माया से इस लोक में अविश्वास और परलोक में नीच गति प्राप्त होती है।

आठवाँ अध्याय :—यहाँ शास्त्राभ्यास करने का उपदेश है। इस युग-जमाने—में ज्ञान की कमी नहीं। परन्तु इस ज्ञान को अज्ञान ही कहते हैं। जिस ज्ञान से त्याग, वैराग्य उत्पन्न नहीं होता तथा वस्तु के शुद्ध स्वरूप का ज्ञान नहीं होता तो वह अज्ञान ही है। जिस पुरुष को वस्तु स्वरूप का ज्ञान हो वही ज्ञानी है। ऐसा ज्ञानी इसी नरदेह में अगणित कर्मों का क्षय कर मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

नवाँ अध्याय :—यह चित्त दमन पर लिखा गया है। इन्द्रियों पर अंकुश रखने का, कषाय त्याग का, समभाव रखने का जो उपदेश दिया है उसका उद्देश्य मन को वश में करना है। जिस व्यक्ति ने मन को जीत लिया उसने संसार को जीत लिया। यद्यपि मन को वश करना अति कठिन है पर असम्भव नहीं। मनोनिग्रह से मोक्षगमन सरल हो जाता है।

दसवाँ अध्याय :—इसमें वैराग्य का उपदेश है। यहाँ बताया गया है कि सांसारिक सुख क्षणिक है, कल्पित है तथा नरक में ले जाने वाला है। पुरुष का सच्चा स्वार्थ मोक्ष की साधना है। इसलिए जब तक मृत्यु न हो तब तक पुरुषार्थ करते हुए अपना हित-साधन कर लेना चाहिये। मृत्यु से कभी न तो डरना चाहिये न उसकी इच्छा ही करनी चाहिये, वरन् सदा मृत्यु के लिए तैयार रहना चाहिये। जीवों को कार्य ऐसे करने चाहिये कि जिनसे पुराने कर्म क्षीण हो जावें और नये बँधे (पैदा) नहीं।

ग्यारहवाँ अधिकार :—धर्म शुद्धि पर है। धर्म ही प्राणी को संसार से तारता है। इसलिये इसे प्रमाद, मान, माया, मोह, मत्सर आदि से मलीन नहीं करना चाहिये। इस संसार में गुप्त सुकृत्य जो सौभाग्य प्राप्त करता है वह प्रगट सुकृत्य लाभ नहीं दे सकता। अपने यश के लिए किया गया सुकृत्य लाभदायक नहीं होता। अपना यश सुनकर प्रसन्न होना हानिकारक है। इसलिए धर्म चाहे थोड़ा हो पर वह शुद्ध होना चाहिए। इससे महान् फल की प्राप्ति होती है। एक छोटासा दीपक जैसे अंधकार का नाश करता है वैसे ही थोड़ासा भी शुद्ध धर्म महान् फल देता है।

बारहवाँ अधिकार :—गुरु शुद्धि के विषय में है। सब तत्त्वों में गुरु-तत्त्व मुख्य है। अतएव परीक्षा करके सद्गुरु का वरण करना चाहिये। कारण, जैसे सुगुरु मनुष्य को तारता है वैसे ही कुगुरु मनुष्य को भव सागर में डुबो देता है। यह पंचम काल महा भयानक है। इस काल में कोई तीर्थंकर या केवलज्ञानी नहीं होते। जैन धर्म जो आज तक स्थिर है वह ज्ञानी-त्यागी आचार्य महाराज के सदुपदेशों के कारण ही है। लेकिन समय के प्रभाव से ये भी अछूते नहीं रहे। वे ज्ञानी महाराज जिन्होंने धर्म की रक्षा की और उसका विस्तार किया परन्तु दुःख के साथ कहना पड़ता है कि इन्हीं के पट्टधर केवली तथा ज्ञानी महाराजों की अनुपस्थिति में शासन में मोटे लुटेरे बन गये। वे श्रावकों की पुण्य-लक्ष्मी को लूटते हैं। आज के मनुष्य अब त्राण के लिए पुकार करें तो किसकी करें। राजा की अनुपस्थिति में क्या कोतवाल चोर नहीं होता? लोगों की दृष्टि में राग की मात्रा बहुत बढ़ गयी है इस कारण अशुद्ध देव, गुरु, धर्म को सच्चा मानकर हर्ष मनाते हैं और इस लोक तथा परलोक दोनों को विकृत कर देते हैं।

दूर रहते हैं। ये अशुभ अध्यवसाय नहीं करते, ये समताधारी होते हैं। अनित्य आदि १२ भावना तथा मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ इन चार भावनाओं को सदा भाते रहते हैं। इस अधिकार में यह भी बताया है कि साधुवेश मात्र से मुक्ति नहीं होती और यह वेश आजीविका के लिए भी नहीं है। साधु अपना व्यवहार लोकरंजन के लिये न करे। मुनि को परिग्रह रहित रहना चाहिये। जो उपकरण धर्म के साधन के लिये हैं अगर उन पर भी ममता है तो वह भी परिग्रह है। यद्यपि चारित्र पालने में कष्ट होता है परन्तु जो कष्ट नारकीय प्राणियों या तिर्यंचों को होता है उससे कहीं कम कष्ट चारित्र पालने में होता है। यह जान लेना चाहिये कि यह कष्ट सद्‌गति देता है और मोक्ष तक की प्राप्ति में सहायक होता है। कोई भी परिषह समता से सहन करने से इस जन्म में निर्जरा तथा परभव में मोक्ष की प्राप्ति होती है। यति गृहस्थ की चिन्ता न करें। एक स्थान पर महामुनि ने यति को साक्षात् संबोधन कर कहा है, हे यति ! तुमने घर बार छोड़ा, महान् गुरु प्राप्त हुआ, उत्तम ग्रन्थों का अभ्यास किया, अपने निर्वाह की चिन्ता से बचे और यदि अब भी परभव के लिये हित साधन नहीं किया तो हे मुने ! तू बड़ा निर्भागी है।

चतुर्दश अध्यायः—मिथ्यात्वादि निरोध पर लिखा गया है—सुख की इच्छा रखने वाले भव्य प्राणियों को मिथ्यात्व योग, अविरति और प्रमाद से बचना चाहिये। कल्पित शास्त्रों पर ममत्व रखना, कदाग्रह करना, बिना परीक्षा किये सभी देवी-देवता, धर्म तथा गुरु को एक समान मानना, धर्म का स्वरूप समझते हुए भी अपनी प्रतिष्ठा के लिए उलटा उपदेश देना, अपने सुगुरु, सुधर्म, सुदेव में शंका रखना मिथ्यात्व है। पाँच इन्द्रियों को वश में नहीं रखना, छैकाय के जीवों का वध करना—अविरति है। मन, वचन तथा काया को विपरीत मार्ग पर जाते हुए अपने को न रोकना योग है और कषाय, विकथा तथा निन्दा ये सब प्रमाद हैं। इन सब का शमन-दमन करने में ही परम लाभ है।

पंचदश अधिकार :—इसमें साधु तथा श्रावक की दिनचर्या कैसी होनी चाहिये यह बताया है :— (१) सामायिक (२) चतुर्विंशतिस्तवन

लिए धन्यवाद समर्पित करता हूँ। जिनदत्तसूरि मण्डल, अजमेर के प्रति भी हार्दिक आभार प्रकट करना मेरा सत्कर्तव्य है, जिसने इस पुस्तक को प्रकाशित करने का भार वहन कर मेरी धर्म-प्रचार-भावना को साकार रूप दिया है।

धर्माभिरुचि पाठकवृन्द इस पुस्तक को पढ़कर यत्किंचित् भी अपने अन्तःकरण या आत्मा को धार्मिक भावना से परिष्कृत करेंगे तो मैं अपना श्रम सफल समझूँगा।

सिरपुरकागजनगर
१-१-१९७२

हरिश्चन्द धाड़ीवाल

फिर भी इनके सम्बन्ध में प्राप्त आँकड़ों से स्थिति कुछ ठीक बन जाती है। गुजरात आदि भारत के कुछ प्रान्तों का थोड़ा-बहुत जो इतिहास मिलता है वह जैन ग्रंथों के आधार पर ही उपलब्ध होता है। हेमचन्द्राचार्य और उसके उत्तरवर्ती [बाद में आने वाले] जैन विद्वानों ने थोड़ा-बहुत लिखा है जो मानव कल्याण की उत्तमोत्तम उपयोगी सामग्री है। हेमचन्द्राचार्य के पूर्ववर्ती आचार्यों के सम्बन्ध में चतुर्विंशति प्रबंध आदि ग्रंथों में इतिहास मिलता है और उसके बाद के आचार्यों के लिये आधार भूत पट्टावलियाँ मिलती हैं। इस स्थिति को दृष्टिगत रखते हुए यह समझा जाय कि इस महान् ग्रंथ के कर्ता का पर्याप्त इतिहास नहीं मिलता, परन्तु इधर-उधर दूर दूर खोज बीन के बाद जो कुछ मिला है उसका यहाँ उल्लेख किया जाता है।

इस महान् ग्रंथ के कर्त्ता का नाम मुनि सुन्दरसूरि है। उनका जन्म विक्रम संवत् १४३६ में (सन् १३८० में) हुआ था। उनका जन्म किस नगर में हुआ, उनके माता-पिता कौन थे और वे किस जाति के थे इस सम्बन्ध में कोई जानकारी नहीं मिलती। उन्होंने सात वर्ष की आयु में सम्वत् १४४३ में जैन धर्म की दीक्षा ली थी।

मुनि सुंदरसूरि महाराज ने किस गुरु से दीक्षा ली इसकी भी कोई जानकारी नहीं मिलती। कालान्तर में वे सोमसुन्दरसूरि के पट्ट पर विराजे इससे वे उनके शिष्य थे ऐसा माना जाता है, परन्तु मुनि सुन्दरसूरि के दीक्षा काल के समय सोमसुन्दरसूरि की आयु तेरह वर्ष की थी इससे उनकी शिष्यता में सन्देह होता है। मुनि सुन्दरसूरिजी ने 'गुर्वावली' में देवचन्दसूरि के सम्बन्ध में जो उस समय तपगच्छ के मूल पट्ट पर थे और गच्छाधिपति थे, लगभग सत्तर श्लोकों की रचना की, जिससे अनुमान किया जाता है कि वे मुनि सुन्दरसूरि के दीक्षा गुरु होंगे। देवचन्द्रसूरि के पट्ट पर सोमसुन्दरसूरि विराजे। इन्हें संवत् १४५० में 'उपाध्याय' पद और संवत् १४५७ में 'सूरि' पद प्रदान किया गया। वे गच्छाधिपति कब हुए इसकी भी जानकारी नहीं मिलती।

मुनि सुन्दरसूरि को वाचक पदवी (उपाध्याय पद) विक्रम संवत् १४६६ में दी गई और उस समय से वे मुनि सुंदर उपाध्याय के नाम से प्रसिद्ध हुए। उस समय गच्छाधिपति सोमसुन्दरसूरि थे। देवराज

सेठ के आग्रह से विक्रम संवत् १४७८ में इन्हें 'सूरि' पद मिला और उसके बाद वे मुनि सुन्दरसूरि के नाम से पृथ्वीतल पर प्रसिद्ध हुए। सूरिपद का महोत्सव बहुत ही धूमधाम से मनाया गया, जिसका उल्लेख 'सोम-सौभाग्य' काव्य में बड़ी रोचक और विस्तृत पदावली में हुआ है।

सोमसुन्दरसूरि का स्वर्गगमन संवत् १४९९ में हुआ। उस समय समस्त आचार्यों में श्रेष्ठ मुनि सुन्दरसूरि गच्छ के अधिपति हुए। इनका स्वर्गगमन विक्रम संवत् १५०३ में हुआ। ६७ वर्ष की आयु में उन्होंने काल किया। इसमें ६० वर्ष दीक्षा पर्याय का पालन किया, २५ वर्ष आचार्य रहे और ४ वर्ष गच्छाधिपति रहे।

मुनि सुन्दरसूरि विविध शास्त्रों के अद्भुत और असाधारण विद्वान् थे। उनकी स्मरणशक्ति बहुत तीव्र (प्रखर) थी, वे सहस्रावधानी थे, अद्भुत स्मरणशक्ति या मस्तिष्क बल के वे अनुपम केन्द्र थे। एक ही समय में अलग अलग एक हजार वार्ताओं पर ध्यान देना और उनमें से कोई भी भाग पूछा जाय उसे बता देना यह ज्ञानावर्णीय सिद्धि कर्म के प्रबल क्षयोपशम से प्राप्त हुई थी। आजकल तो 'शतावधानी'—ज्यादा से ज्यादा सौ अवधान करने वाले व्यक्ति सुने जाते हैं। विद्वान् जब इनको अपूर्व मान की दृष्टि से देखते हैं तो ऐसे हजार अवधान करने वाले पुरुष की अद्भुत शक्ति पर विद्वानों को कितना विस्मय होता होगा यह विचारना चाहिये। वे ग्रन्थों में सर्वत्र 'सहस्रावधानी'—

श्री प्रतिष्ठासोम नामके 'साधु सोम सौभाग्य' काव्य के दशवें सर्ग में उल्लेख है :—

"युगप्रधान मुनि सुन्दरसूरि की सूरिमंत्र स्मरण करने की शक्ति विस्मय कारक थी। श्री रोहिणी नगर में मरकी के उपद्रव को शांत किया, इससे आश्चर्यान्वित हो वहां के राजा ने शिकार करना छोड़ दिया। इसी प्रकार देवकुल पाटक नगर में शांतिकर स्तोत्र से वहां की महामारी को शांत किया। यह शांतिकर स्तोत्र (संतिकरं) इसके बाद इतना अधिक लोकप्रिय हुआ कि यह नव-स्मरण में एक है। इसी स्तोत्र (संतिकरं संति जिणम्) के द्वारा शिवपुर नगर में व्यंतरियों द्वारा उत्पन्न महामारी के भयंकर उपद्रव को शांत किया।"

श्री हीर सौभाग्य महाकाव्य के कर्त्ता ने एक जगह लिखा है "ये महात्मा एक सौ आठ जाति के बाटकों के शब्द को परख सकते थे। एक समय पाटण शहर में दूर दूर देश से वादी लोग आए। वे पत्रावलंबन आदि भी करते थे। राजसभा में वाद-विवाद छै माह तक चला और अन्त में अपना अद्भुत चातुर्य बताने के साथ मुनि सुन्दर-सूरि को एक सौ आठ बाटकों की अलग २ आवाज चाहे जिस अनुक्रम से पूछे जाने पर भी बताते हुए बुद्धिबल प्रकट कर समस्त वादियों को परास्त किया"।

इस प्रकार उनके समीप के विद्वान् उनके बारे में क्या धारणा रखते थे यह स्पष्ट ज्ञात होता है। उनकी मेधा और स्मरण शक्ति बहुत अद्भुत थी यह उनके ग्रन्थों से स्पष्ट मालूम होती है। वे जिस विषय को लेते थे उस सम्बन्ध में बिना किसी भी प्रकार के क्षोभ या भय के हिम्मत और सत्यता से लिखते व कहते थे। उनका आत्मिक बल 'यति शिक्षा' अधिकार से भली प्रकार झलकता है। अपने ही वर्ग को ‍ शब्दों में प्रतारणा देते हुए शिक्षा देना यह उनके अपने मन पर साधारण विजय और आत्मिक बल या धैर्य के बिना नहीं हो स ‍। इस अधिकार का प्रत्येक श्लोक सूरि महाराज की आत्म-विभूति बताने के लिये पर्याप्त है।

इस ग्रन्थकर्ता के समय जैन समाज का बंधारण कैसा होगा इस

विषय में ठीक ठीक अनुमान लगाने से पहले उन्होंने कौन कौन से ग्रन्थों की रचना की; यह देखना चाहिये। सूरि महाराज ने अनेक ग्रन्थों की रचना की है, परन्तु मुस्लिम शासकों के दुर्दम अत्याचारों और जनता की अस्त व्यस्त स्थिति के कारण बहुत से ग्रन्थ नष्ट हो गये। फिर भी खोज के बाद जो ग्रन्थ मिले हैं वे ये हैं :—

(१) त्रिदश तरंगिणी, (२) उपदेश रत्नाकर, (३) अध्यात्म कल्पद्रुम, (४) स्तोत्र रत्न कोष, (५) मित्र चतुष्क कथा, (६) शांतिकर स्तोत्र, (७) पाक्षिक सित्तरी, (८) अंगुल सित्तरी, (९) वनस्पति सित्तरी, (१०) तपागच्छ पट्टावली, (११) शांत रस रास, (१२) त्रिविद्य गोष्ठी, (१३) जयानन्द चरित्र, (१४) चतुर्विंशति जिन स्तोत्र, (१५) श्री मंदिर स्तुति।

ये समस्त ग्रन्थ इन आचार्य की विद्वत्ता, प्रतिभा और अद्भुत विवेक शक्ति के मूल्यांकन के लिये पर्याप्त हैं।

मुनि सुन्दरसूरि के समय में जैन समाज का बंधारण किस प्रकार का था यह जानने में आवे तो ग्रन्थ समझने में बहुत उपयोगी हो; कारण, ग्रन्थ हमेशा तात्कालीन समाज की रीति-नीति प्रथा-मर्यादाओं को प्रकट करनेवाला होता है। अध्यात्म कल्पद्रुम तात्कालीन समाज का प्रतिबिम्ब है। समाज का आध्यात्मिक जीवन बहुत मंद या निम्न स्तर का हो गया हो ऐसा नहीं प्रतीत होता, क्योंकि यदि इस विषय से लोगों की रुचि हट गई होती तो उस विषय का गंभीर विवेचन और विस्तृत उपदेश नहीं होता। फिर भी इतना कहने में संकोच नहीं होता कि उस समय जनता की रुचि आध्यात्मिक विषय की ओर बहुत नहीं थी। यतिशिक्षा अधिकार जिन शब्दों में लिखा गया है उससे स्पष्ट होता है कि आध्यात्मिक जीवन बहुत ऊँची स्थिति पर नहीं था। भारतीय प्रजा की स्थिति उस समय बहुत अव्यवस्थित थी। मुसलमान शासकों का धार्मिक कट्टरपन, उनकी हिंसा प्रवृत्ति इतिहास के पृष्ठों में चमक रही है। तुगलक वंश के क्रूर बादशाह महमूद की हिंसान्धता और अन्याय के विरोध में यत्रतत्र प्रजा में क्रान्ति होती रहती थी।

ऐसी क्रान्ति के समय जैन धर्म और मुनि महाराजों की क्या

स्थिति थी यह यहां जानने योग्य है। गच्छ भेद ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दी में प्रारम्भ हुए। उनकी आत्मा में धर्म के प्रति बड़ा उत्साह था। यह भी न भूल जाना चाहिए कि जनता का गुरु के प्रति पूज्यभाव अपूर्व था यह तथ्य 'सोम सौभाग्य' काव्य और 'अध्यात्म कल्पद्रुम' के 'गुरुशुद्धि' अधिकार से स्पष्ट झलकता है। प्रथम ग्रन्थ से समकालीन परिस्थिति का और दूसरे ग्रन्थ से जनता की भावना का परिचय मिलता है। गच्छ नायक अपूर्व त्याग तथा वैराग्य से ओत प्रोत (परिपूर्ण) होते थे। साधु वर्ग में बहुत संयम था इसी कारण देवचन्द्रसूरि ने अपने शिष्य सोमसुन्दरसूरि को ज्ञानसागरसूरि के पास अभ्यास करने को भेजा। सभी साधु अपने गच्छ के अधिपति के आदेश को मानते थे और उसके अनुसार ही तत्परता से व्यवहार करते थे। राजा (गच्छाधिपति) बड़ा शक्तिशाली शासन करने वाला होता था। प्रजा बहुत सोच विचार कर अपना योग्य राजा चुनती थी। जिसे प्रजा ने एक बार चुन लिया वह आजीवन राजासन पर विराजता था। राजा का चुनाव उसकी व्यवहार—कुशलता, राजनीति-ज्ञान और अद्भुत शक्ति तथा प्रभाव आदि शासकीय गुणों को देखकर ही होता था। जिससे वह समस्त प्रजा पर अपना अंकुश रख सके, तथा समाज को मर्यादा में सुबद्ध रख सके।

उस समय गुरु में अभिमानी, प्रमादी, मूर्ख और पाप-सेवन-करने वाले व्यक्ति नहीं होते थे। साधुओं में द्रोह की कथा नहीं पाई जाती थी, प्रमाद तथा छल का तो नाम भी नहीं था, असत्य को भी कहीं स्थान न था ऐसी स्थिति में विकथा की तो बात ही क्या? साधु वर्ग में महातपस्वी, वादीश्वर और अभ्यासी थे। मुनियों में परिग्रह वृत्ति नहीं थी। वे कंचन—कामिनी के त्यागी थे। इस प्रकार जैन गृहस्थों और साधुवर्ग की स्थिति संतोषप्रद थी। श्रावक भी गुरु पर दृढ़ श्रद्धा वाले थे। गुणराज, देवराज, विशाल, धरणेंद्र, नींब आदि सेठों ने गुरु की जिन शब्दों में स्तुति कर अपनी लघुता बताई और अपूर्व महोत्सव से सूरि पदवी की प्रतिष्ठा कराई यह चारित्र, धर्म और गुरु के प्रति लोगों के दृढ़ अनुराग, श्रद्धा या भक्ति का द्योतक है। गच्छपति की आज्ञा सब ही आदर पूर्वक मानते थे। साधुओं में विहार करने की आदत थी। इसी कारण सोमसुंदर सूरि जैसे आचार्य एक स्थान

पर तीन या पाँच रात्रि से अधिक नहीं ठहरते थे, यह बात सोम सौभाग्य से स्पष्ट मालूम होती है। उस समय यद्यपि तीर्थयात्रा के साधन सुलभ नहीं थे मार्ग में अनेक भयानक स्थितियों का सामना करना पड़ता था फिर भी शत्रुंजय तीर्थ की यात्रा की महिमा थी। यह महात्मा तीन बार बहुत बड़ी धूमधाम और आडम्बर से तीर्थ यात्रा के लिए निकले, यह बात संघ के वर्णन से स्पष्ट है।

उस समय श्रावक वर्ग की स्थिति भी बहुत अच्छी होगी यह सूरिपद की प्रतिष्ठा, जिन चैत्यों की प्रतिष्ठा और संघ यात्रा के महोत्सवों से ज्ञात होता है। यदि आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं होती तो ऐसे अद्भुत महोत्सव कैसे मनाए जा सकते थे। एक एक श्रावक शासन के प्रभावक हुए हैं यह मुनि सुन्दरसूरि महाराज की गुर्वावली में वर्णित हेम मंत्री और लल्लना पुत्र नाथाशाह के वर्णन से मालूम होता है। ये श्रावक भय के कारण निःसंग जैसी सावद्य क्रिया को आरम्भ न करने वाले और गण को सदा सब प्रकार का सहयोग देने वाले थे। ऐसे उदार और धर्म परायण श्रावक यदि उत्पन्न हों तो शासन स्थिर रहता है यह कोई नई बात नहीं है। शासन के कार्य में सहयोग देना पड़ता है और विरुद्ध टीकाएँ सहन करनी पड़ती हैं। परन्तु यह सब आत्मिक उन्नति के हेतु जप, तप, योग, विराग करने वाले ही सहन करते हैं, क्योंकि वे ऐहिक मान-प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए व्यवहार नहीं करते अपितु परभव में अक्षय सुख प्राप्ति के साधनों में संलग्न रहते हैं। श्रावक वर्ग यद्यपि अधिक शास्त्राभ्यासी नहीं थे, फिर भी श्रोता अच्छी संख्या में एकत्रित होते थे यह उपदेश रत्नाकर में बताये उपदेश ग्रहण करने वालों के लक्षणों से ज्ञात होता है।

★

[गुजराती भाषा में अध्यात्म कल्पद्रुम का विस्तार से विवेचन करने वाले स्व० मोतीचन्द गिरधरलाल कापड़िया (सोलिसिटर और नोटेरी पब्लिक, हाई कोर्ट, बम्बई) के आधार पर]

प्रकाशक के दो शब्द

श्री जिनदत्तसूरि ज्ञानमाला का बीसवां पुष्प आपके सन्मुख प्रस्तुत है।

यह एक आध्यात्मिक पुस्तक है जिसके रचयिता श्री मुनिसुंदरसूरि हैं जो अपने समय के प्रकाण्ड विद्वान थे।

अध्यात्म ग्रंथ के विषय प्रायः शुष्क होते हैं। इनमें प्रेम या वीर-रस की बात नहीं होती, मनोविकार को पुष्ट करने वाली कथाएं भी इनमें नहीं होतीं, हास्य विनोद द्वारा आनन्द उत्पन्न करने वाले विदूषक भी इनमें नहीं आते, गायन द्वारा तृप्त करने वाली सुंदरियां भी इनमें दृष्टिगोचर नहीं होतीं, प्रतिभटों से भयंकर युद्ध करने वाले वीर पुरुषों के रस का भी यहाँ आनन्द नहीं होता, इनमें तो केवल शांत रस की स्थापना और उसकी ही प्रतिष्ठा की प्रमुख बात होती है। इस विषय को अनेक आकार में उपस्थित किया जाता है, इस प्रसंग को लेकर उसे प्राप्त करने के उपाय, साधन व मार्ग बताये जाते है; इस रस के विपरीत रसों का वर्णन इनमें नहीं होता, परन्तु इन विपरीत रसों का इस रस के साथ क्या सम्बंध है यह बताया जाता है। निर्वेद, वैराग्य, उपशम आदि में सर्व साधारण की प्रवृत्ति नहीं होती इस कारण रसिक लोगों को शांत रस के आस्वाद में रुचि नहीं होती, यह सत्य है, परन्तु यह कड़वी औषधि है और भव व्याधि का नाश करने के लिये अनिवार्य है ऐसा अनन्त सुख या मोक्ष की साधना करने वाले आचार्य कहते हैं। जब अनुभवी ज्ञानी आचार्य शुष्क व कटु लगने वाली औषधि देने की आवश्यकता बता गये हैं तब उसका भली भाँति विवेक पूर्ण विचार कर अपने व्यवहारों में उसका समुचित उपयोग करना साधक का मुख्य कर्त्तव्य है।

आज के भौतिक युग में इस कड़वी औषधि (अध्यात्म) की अत्यंत आवश्यकता है ऐसा अब पाश्चात्य देश के रहने वाले भी मानने लगे है और इसके अध्ययन के लिये लालायित रहते हैं। इसी दृष्टि कोण को लेकर अध्यात्म कल्पद्रुम का सारांश सर्व साधारण के हितार्थ प्रकाशित किया जा रहा है।

पुस्तक को शुद्ध छपवाने का पूरा प्रयत्न किया गया है फिर भी भूल रह जाना स्वाभाविक है। इस सम्बंध में विवेकी पाठकगण सूचित करेंगे तो दूसरी आवृत्ति में उसका पूरा ध्यान रखा जायगा। इस पुस्तक की भाषा सादी और सरल है जिससे बुद्धिशाली और सामान्य जनता सबको यह कुछ नया ज्ञान देगी ऐसी आशा है। एक-दो बार पढ़ने में यदि भाव बराबर ऊतरंग में नहीं उतरें तो रुचि के साथ चार पांच बार इस पुस्तक को पढ़ना चाहिये। लेखक का आग्रह तो यह है कि पढ़ने के बजाय उस पर अधिक विचार किया जावे। इससे सूरि महाराज के भाव समझ में आ जायेंगे और समझने के बाद वे भाव कार्य रूप में परिणत कर सकेंगे। यदि पाठक ऐसा करेंगे तो इस पुस्तक को प्रकाशित करने का उद्देश्य सफल होगा।

आशा है यह पुस्तक सर्वसाधारण के आध्यात्मिक जीवन उन्नत बनाने में उपयोगी सिद्ध होगी और हम भी अपना श्रम सफल समझेंगे।

हम निम्न महानुभावों के आभारी हैं जिन्होंने इस पुस्तक प्रकाशन से पूर्व ही अग्रिम प्रतियां खरीद कर हमें प्रकाशन खर्च में सुविधा उपलब्ध करने के साथ २ उत्साहित भी किया है।

१. श्री कुशलचन्दजी पारसचन्दजी धाड़ीवाल, अजमेर २०० प्रति

२. श्रीमती रतनकुमारीजी कुमठ, मदरास १०० प्रति

३ श्रीमान् गोपीचंदजी सा. धाड़ीवाल, कलकत्ता १०० प्रति

चांदमल सीपाणी
मंत्री
श्री जिनदत्तसूरि मण्डल,
दादावाड़ी, अजमेर

दादा पुण्य तिथि
आषाढ़ शुक्ला ११ सं० २०३०
दि० ११-७-१९७३

श्री जिनदत्तसूरि ज्ञानमाला के अभिनव प्रकाशन

१. नमस्कार चिंतामणि

नवकार महामंत्र की महिमा, महत्त्व एवं उसकी साधना का विशद वर्णन। मूल्य रु० ३=५०

२. जीवन दर्शन

आधुनिक बुद्धिवादी काल में आसानी से समझे जा सकें इस प्रकार जैन सिद्धान्त का विवेचन। मूल्य रु० १=००

३. धर्म और संसार का स्वरूप

साधारण व्यक्ति भी आसानी से समझकर अपने जीवन को शांत, उपयोगी और सुखी बना सकता है। मूल्य रु० २=००

४. अध्यात्म विज्ञान योग प्रवेशिका

केवल परलोक में ही नहीं वरन् इसी जीवन में शांति, सुख व सफलता का तात्त्विक ही नहीं किन्तु जीवन व्यवहार में आनेवाला बुद्धि तथा जीवन अनुभवों से समझे जाने वाला मार्ग दर्शन बताने वाली। मूल्य रु० ३=००

५. विज्ञान और अध्यात्म

विज्ञान और अध्यात्म का तुलनात्मक वर्णन जो वर्तमान तथा

शुद्धि पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	५	किया	की
१	२४	का	के
६	१४	चक्रव्रती	चक्रवर्ती
१३	२	पीड़ा	पीड़ित
२८	६	यह	है
३२	६	तो	जो
३८	१६	की मृत्यु नाश कराने	नाश कराने की मृत्यु
४०	१२	साधुओं	साधुओं की
४३	१०	संदेह	संदेह है
४८	१७	सत्पुषार्थ	सत् पुरुषार्थ
५७	१०	निकला	निकाल
६३	१०	प्राप्ति	प्राप्ति के लिये
८६	७	ही	भी
१०४	१	सत्तर	सत्रह
११३	१६	रही	रहा
१४७	१८	कीति	कीर्ति
१७३	१६	घोखा	धोखा
१८३	१४	के	की
१८४	६	यह	इन
२०१	२५	कुप्रभाव	कुप्रभाव तथा
२०३	८	घर्म	धर्म
२०८	२२	नये	नया
२३५	१८	का	के
२३८	१७	पणिहन्ति	प्रणिहानी
२४२	११	की	के

"लोक व्यापार से विमुख ऐसे साधु मुनिराज को जो सुख शान्त रस से प्राप्त होता है वह सुख चक्रवर्ती राजा अथवा इन्द्र को भी नहीं प्राप्त होता" इसका कारण यह है कि यह सुख पौद्गलिक नहीं है। पौद्गलिक सुख जो राजा महाराज को प्राप्त होते हैं वे क्षणिक हैं और परिणाम में दुखदायी होते हैं। यह शान्त रस मानसिक है। इससे इस भव में मानसिक तथा शारीरिक दोनों सुख प्राप्त होते हैं। शान्त रस से प्राप्त ऐहिक सुख प्रत्यक्ष है। इसे प्राप्त करने में धन व्यय करने की आवश्यकता नहीं, न शारीरिक कष्ट की जरूरत है और न इधर उधर के साधनों की चिन्ता करनी पड़ती है जैसा कि कहा है:—

स्वर्गसुखानि परोक्षाण्यत्यन्तपरोक्षमेव मोक्षसुखम्।
प्रत्यक्षं प्रशमसुखं, नो परवशं न च व्ययप्राप्तम्॥

"स्वर्ग सुख परोक्ष है, मोक्ष सुख इससे अधिक परोक्ष है। परन्तु प्रशम सुख—शान्त सुख प्रत्यक्ष है, और इसे प्राप्त करने में एक पैसा भी खर्च नहीं करना पड़ता" और इसमें परवशता भी नहीं है। अतएव शान्त रस से प्राप्त सुख इस भव में तो प्रत्यक्ष है ही पर परभव में भी सुख देने वाला है क्योंकि इससे नये कर्म बन्ध नहीं होते और पहले के किए कर्म भी क्षीण हो जाते हैं। यहां तक कि मोक्ष सुख की प्राप्ति भी इस शान्त रस से हो जाती है।

यह शान्त रस पारमार्थिक उपदेश देने लायक भी है। क्योंकि वीर रस, करुण रस, अथवा हास्य रस आदि अन्य रस सांसारिक सुख देने वाले हैं। इनमें इन्द्रियों से भोगे जाने वाले विषयों की तृप्ति और मन की निरंकुशता के सिवाय वास्तव में और कुछ नहीं है। इनका परिणाम भी अहितकर होता है। जबकि शान्त रस इनसे उलटा तथा सबसे उत्कृष्ट सुख है। इसमें किसी व्यक्ति को किसी प्रकार बाधा नहीं आती। बल्कि पारमार्थिक विषय होने से यह आदरणीय है और परमार्थिक इच्छा करने वाले व्यक्तियों को उपदेश देने योग्य है। कवि हास्य रस को उच्च स्थान देते हैं परन्तु यह ठीक नहीं, कारण कि जो शान्त रस के तत्त्व को समझते हैं तथा उसका अनुभव करते हैं वे जानते हैं कि हास्य रस शान्त रस के आगे फीका है। इसीलिए शान्त रस को रसराज कहा है।

शान्तरस — शुरूआत मांगलव

जयश्रीरान्तरारीणां, लेभे येन प्रशान्तितः ।
तं श्री वीरजिनं नत्वा, रसः शान्तो विभाव्यते ॥१॥

"जिस श्री वीर भगवान् ने उत्कृष्ट शान्ति से अन्तरंग शत्रुओं पर विजय प्राप्त किया है उस परम आत्मा को नमस्कार करके शान्त रस की भावना की व्याख्या करता हूँ।"

विवेचन:—श्री वीर भगवान् ने काम, क्रोध, मान, मोह, मद, मत्सर, माया, लोभ आदि अंतरंग शत्रुओं पर अत्यन्त शान्तिपूर्वक विजय प्राप्त की। काम, क्रोध आदि को मनोविज्ञान के विद्वानों ने भी आभ्यन्तर 'अरिषड् वर्ग' कहा है। इनको कुछ विद्वानों ने मोहराजा की दुर्दम सेना कहा है। जिन सद्गृहस्थियों ने शास्त्रों में उपदेश किए हुए २५ गुणों से युक्त सुमार्ग स्वरूप धर्म के अनुष्ठान को अंगीकार किया है वे इन अंतरंग शत्रुओं से कभी पराजित या मार्ग-भ्रष्ट नहीं होते। इसके विपरीत वे श्रद्धारूप सम्यक्त्व प्राप्त करके देशविरति धर्म (गृहस्थ धर्म) अथवा सर्वविरति धर्म (साधुधर्म) प्राप्त करके इन्द्रियों का दमन, आत्म-संयम, क्षमा-धारण, सत्य-वचनोच्चार, अस्तेय—चोरी न करना, त्याग, अखण्ड ब्रह्मचर्य और व्यक्तिगत अधिकार के अनुसार बहिरंग एवं अन्तरंग 'परिग्रह-त्याग' आदि सद्गुणों को प्राप्त करते ही अप्रमत्त अवस्था प्राप्त कर धीरे धीरे अन्तरंग शत्रुओं पर विजय पाते हैं। भगवान् वीर प्रभु ने भी इसी प्रकार अन्तरंग शत्रुओं को जीता था। ये सब तथ्य भगवान् के जीवन चरित्र में संगम, चंड-कौशिक, शूलपाणि, गोशाला आदि की कथाओं के पढ़ने से ज्ञात होंगे। भगवान् ने अखण्ड शान्ति रख कर सदुपदेश द्वारा अतुल दुःख देने वाले व्यक्तियों का भी उपकार किया था। यह भगवान् का शान्ति द्वारा प्राप्त अतुल मनोबल का साक्षात् उदाहरण है।

अनुपम सुख का कारण भूत शान्तरस का उपदेश

सर्वमङ्गलनिधौ हृदि यस्मिन्, सङ्गते निरुपमं सुखमेति ।
मुक्तिशर्म च वशीभवति द्राक्, तं बुधा भजत शान्तरसेन्द्रम् ॥२॥

"जिस व्यक्ति के हृदय में शान्त रस है, जिसे विद्वानों ने सब मांगलिक कार्यों या गुणों का खजाना कहा है, वह अनुपम सुख तो प्राप्त करता ही है, मोक्ष सुख भी उसको एकदम प्राप्त हो जाता है। हे पंडितो! तुम ऐसे रसराज शान्त रस को प्राप्त करो" ॥ २ ॥

विवरण:—जिसे शान्त रस प्राप्त है उसे सब सुख प्राप्त होता है। अतएव यह सुख क्या वस्तु है यह जानना चाहिये। संसारी जीव अच्छा खाने, अच्छा पीने, उत्तम वस्त्र, और आभूषण आदि वस्तुएँ प्राप्त कर ठाठ से रहने में सुख मानता है। परन्तु यह जानना चाहिये कि इसमें सुख कुछ भी नहीं है। ये सब क्षणिक हैं और मनुष्य जीवन भी क्षणिक है। विषय सुख आदि पुण्य समाप्त होने पर नष्ट हो जाते हैं और अन्त में दुःख ही दुःख रह जाता है। अतएव वह सुख कैसा जिसके भोगने से अन्त में दुःख हो? यह तो केवल माना हुआ सुख है। वास्तविक सुख तो कुछ और ही है। यह वास्तविक सुख तो मन की शान्ति में ही है। जब तक मन एक विषय से दूसरे विषय की तरफ दौड़ता रहता है तब तक यही समझना चाहिये कि उसे अब तक सुख प्राप्त हुआ ही नहीं। यदि वास्तविक सुख प्राप्त हुआ होता तो चित्त को एक विषय में दूसरे विषय की तरफ दौड़ने की जरूरत ही नहीं रहती। अतएव वास्तविक सुख तो चित्त-शांति में ही है और यही शान्त रस है। इसीसे अविनाशी अव्याबाध वास्तविक सुख प्राप्त होता है।

इस ग्रन्थ के सोलह द्वार हैं।

समतैकलीनचित्तो, ललनपत्यस्वदेहममताभुक् ।
विषयकषायाद्यवशः शास्त्रगुणैर्दमितचेतस्कः ॥३॥
वैराग्यशुद्धधर्मा देवादिसतत्वविद्विरतिधारी ।
संवरवान् शुभवृत्तिः साम्यरहस्यं भज शिवार्थिन् ॥४॥

"हे मोक्षार्थी प्राणी ! तू समता में लीन हो। स्त्री, पुत्र, पैसा और शरीर की ममता छोड़ दे; वर्ण, गन्ध रस, स्पर्श आदि इन्द्रियों के विषयों और क्रोध, मान, माया, और लोभ इन कषायों के वशीभूत मत हो; शास्त्ररूप लगाम से अपने मन रूपी घोड़े को वश में रख; वैराग्य से शुद्ध निष्कलंक और धर्म परायण हो (साधु के दश यतिधर्म श्रावक के बारह व्रत और इसी प्रकार आत्मा के शुद्ध गुण रमणता वाले शुद्ध धर्म का अनुयायी बन); देव, गुरु, धर्म के शुद्धस्वरूप को पहिचान; सब प्रकार के सावद्य योगों से निवृत्ति रूप विरति धारण कर; सत्तावन प्रकार के संवर वाला हो; अपनी चित्त वृत्तियों को शुद्ध रख और समता के रहस्य को समझ ॥३-४॥"

भावना भासने के लिये मन को उपदेश

चित्तबालक ! मा त्याक्षीरजस्रं भावनौषधीः ।
यत्वां दुर्ध्यानभूतो न, च्छलयति छलान्वितः ॥५॥

"हे चित्तरूप बालक ! भावना रूप औषधी को तू मत छोड़ जिससे छल छिद्र ढूंढ़ने वाला दुर्ध्यान रूपी भूत पिशाच तुझको छल नहीं सके।"

विशेषार्थ :—मनुष्य का मन एक बालक के समान है। वह यह नहीं समझता कि संसार अस्थिर है, सहज सम्बन्धी, स्नेही माता पिता आदि सब अनित्य हैं। इनमें से कोई भी दुःख में दूसरे की रक्षा नहीं कर सकता। मनुष्य को अपने किये का फल अपने आप ही भोगना पड़ता है। सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति एक मेले के समान है जो पल में मिल जाती है और देखते देखते बिखर जाती है। यह जीव तो जगत् में अकेला आया और अकेला ही जायगा। इस प्रकार मनुष्यों को हर समय सोचते रहना चाहिये और अपनी वास्तविक दशा पर विचार करना चाहिये। ऐसी स्थिति में ज्ञात होगा कि आत्मा की शुद्ध दशा क्या है और विभाव दशा क्या है तथा पौद्गलिक वस्तुओं और अपनी आत्मा में क्या अन्तर है। इस प्रकार का विचार करना शास्त्रों में "भावना भाना" कहा गया है। इस प्रकार भावना भासने से सत्य ज्ञान होता है। सत्य ज्ञान होने से उसी पर आचरण करने की इच्छा

होती है। इस प्रकार सत्य ज्ञान प्राप्तकर तदनुसार वर्तन से (ज्ञान क्रियाभ्यां मोक्षः) मोक्ष की प्राप्ति होती है। संसारी जीव अनादि काल से संसारी भावना के कारण ८४ लाख जीव योनियों में भ्रमण करते करते अपनी वास्तविक स्थिति को भूल गया है और संसारी वस्तुओं [घरबार, गहना, जमीन, जायदाद, व्यापार आदि द्वारा खूब धन कमाना] में अपने आपको भूला हुआ वह नहीं जानता कि संसार का स्वरूप क्या है? यहाँ तक कि धर्म कार्य में भी दुर्ध्यान करके लगता है। यह कितनी विचित्र बात है। इसी कारण इस चित्त को बेसमझ बालक कहा है। दुर्ध्यान को मिटाने का साधन भावना भाना बताया है जो समता का बीज है—

इन्द्रियों का सुख और समता का सुख

यदिन्द्रियार्थैः सकलैः सुखं स्यान्नरेन्द्रचक्रित्रिदशाधिपानाम् ।
तद्बिन्दवत्येव पुरा हि साम्यसुधांबुधेस्तेन तमाद्रियस्व ॥६॥

"राजा, चक्रवर्ती और देवों के स्वामी इन्द्र को भी सब सुख इन्द्रियों द्वारा प्राप्त होते हैं। ये सब सुख समता के सुख समुद्र के सामने एक बिन्दु समान हैं। इसलिये समता के सुख का आदर करो" ॥ ६ ॥

भावार्थः—दुःख हो या सुख, हर्ष हो या शोक, प्रत्येक परिस्थिति में चित्त को एक रस रखने को; उसे चंचल न होने देने को समता कहते हैं। जब मन पर पूरा अधिकार हो जाता है, वह किसी भी अवस्था में चलायमान नहीं होता तब आत्मा को वास्तविक सुख का अनुभव होता है। यह समता का सुख इन्द्रियजनित पौद्गलिक सुख की अपेक्षा अनन्त गुणा अधिक है, उस सुख की कल्पना करना भी कठिन है। यदि पौद्गलिक सुख एक बूंद के समान है तो समता का सुख समुद्र के समान है। मनुष्य इस समता के सुख को यत्न करने से प्राप्त कर सकता है। इसमें न पैसा खर्च करने की आवश्यकता है और न किसी बन्धु की सहायता की। मनुष्य को केवल अपना दृष्टिकोण बदलने की आवश्यकता है। एक बार यह समझ लेना चाहिये कि

इस संसार में उसका क्या है ? जो कुछ पौद्गलिक वस्तुएँ हैं जिनको वह अपनी मान बैठा है, अपनी नहीं हैं। इसके सिवाय यह भी समझते रहना चाहिये कि इनको भोगने में क्षणिक सुख है, परिणाम इनका दुःख ही दुःख है। जब इतनी बात समझ में आ जायगी और दृढ़ निश्चय हो जायगा तो स्वतः ही समता प्राप्त हो जायगी, जिससे आत्मा को ही सुख मिलेगा।

सांसारिक जीव का सुख और यति का सुख।

अदृष्टवैचित्र्यवशाज्जगज्जने, विचित्रकर्माशयवाग्विसंस्थुले।
उदासवृत्तिस्थितचित्तवृत्तयः, सुखं श्रयन्ते यतयः क्षतार्तयः ॥७॥

"जगत् के प्राणी पुण्य और पाप की विचित्रता के आधीन हैं और अनेक प्रकार के मन, वचन और काया के व्यापार के कारण दुखी हैं। पर वे यति मुनि ही जिन्होंने मध्यस्थ वृति अपना रखी है। जिनके मन की द्विधा मिट गई हैं वे वास्तविक सुख भोगते हैं" ॥ ७ ॥

विवेचनः—यह जीव पुण्य के उदय से सब सांसारिक सुख भोगता है। अच्छा शरीर, अच्छा रूप, धन-धान्य, पुत्र, स्त्री, सगे सम्बन्धी आदि प्राप्त करता है और अपने आप को बड़ा सुखी मानता है। वही जीव जब पाप का उदय होता है तब अपने आप को महान् दुखी अनुभव करता है। कहीं भी स्थिरता प्राप्त नहीं करता। पूर्ण सुख उसे कहीं भी प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार पाप पुण्यों के प्रभाव से जीव अच्छी बुरी स्थितियों में से गुजरता है। जब काल आता है तो इस योनि को छोड़ किसी नई योनि में जन्म लेता है और पूर्ण सुख उसे कहीं भी प्राप्त नहीं होता, क्योंकि संसार के सुख क्षणिक हैं और अन्त में दुख देने वाले हैं। अब देखना यह है कि माध्यस्थ दृष्टि रखने वाले को कैसा सुख है। माध्यस्थ दृष्टि रखने वाला अपनी आत्मा में रमण करता है। उसे संसार की नाना उपाधियों से कोई मतलब नहीं, क्योंकि वह जानता है कि सुख तो मन की मान्यता में है। सुख पुद्गलों में नहीं, केवल साम्यभाव में है। इसलिये उसे संसारी सुख में खुशी नहीं और दुःख में दुःख नहीं। वह जानता है कि सुख दुःख तो कर्म और प्रकृति के उदय से होता है। पाप तथा पुण्य दोनों प्रकार के कर्म

व्याप्य है। अतएव वह साम्यता भाव रखता है और इसी में अत्यन्त सुख अनुभव करता है। वह शत्रु तथा मित्र में भेद नहीं देखता और समस्त संसार को अपना मित्र समझता है।

समता सुख अनुभव करने का उपदेश

विश्वजन्तुषु यदि क्षणमेकं, साम्यतो भजसि मानस मैत्रीम् ।
तत्सुखं परममत्र परत्राप्यश्नुषे न यदभूत्तव जातु ॥८॥

"हे मन! यदि तू सब प्राणियों पर समतापूर्वक एक क्षण भी परहित-चिन्तारूप मैत्री भाव भावेगा तो तुझे इस भव और परभव में ऐसा सुख मिलेगा जैसा तूने कभी भी अनुभव नहीं किया होगा" ॥८॥

विवेचन :—समता सुख तो अनुभव से ही जाना जाता है। जैसे गुड़ का स्वाद चखने से मालूम होता है, कहने से नहीं। इसी प्रकार समता-सुख भी अनुभव करने से ज्ञात होता है। समता भाव रखने से शत्रुभाव का लोप हो जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि सुपुण्य बँधता है, जिसके प्रभाव से इस लोक में और परलोक में अपूर्व सुख प्राप्त होता है। जीव ने आज तक पौद्गलिक सुख अनुभव किया है वह आत्मिक सुख नहीं जानता। वह जब सुपुण्य के प्रभाव से आत्मिक सुख अनुभव करेगा तो उसे नवीन प्रकार का आनन्द मालूम होगा। समता भाव भाते ही उसे जो मानसिक सन्तोष और आनन्द होगा वह अलौकिक होगा—सर्वोत्तम होगा। वह आनन्द उसके अन्दर से उत्पन्न होता है। उसे प्राप्त करने के लिए बाह्य साधन ढूँढने की आवश्यकता नहीं। समता भावी जीव सदा परहितकारक होता है। पौद्गलिक आनन्द और आत्मिक आनन्द में बहुत अन्तर है। पौद्गलिक आनन्द पराधीन और क्षणिक है और अन्त में दुःख प्रद है। आत्मिक आनन्द शाश्वत एवं अटूट है और स्वाधीन है।

समता की भावना (Ideal)

न यस्य मित्रं न च कोऽपि शत्रुर्निजः परो वापि न कश्चनास्ते ।
न चेन्द्रियार्थेषु रमेत चेतः, कषायमुक्तः परमः स योगी ॥९

"जिस पुरुष का न कोई मित्र है और न कोई शत्रु, जिसका न कोई अपना है और न कोई पराया और जिसका मन कषाय रहित होकर इन्द्रियों के विषय में लीन नहीं होता, ऐसा पुरुष महायोगी है" ॥९॥

कोई भी प्राणी इस जीव को गाली दे, इसकी निन्दा करे या स्तुति करे या इसे लाखों रुपयों का लाभ करावे या हानि करे, इसका तिरस्कार करे या इसे मान देवे, इससे लड़ाई करे या मित्रता रखे, इस प्रकार के परस्पर विरोधी संयोगों में वह अपने मन को चंचल नहीं होने देता, और शत्रु एवं मित्र को एक समान माने और उनकी शत्रुता अथवा मित्रता में उनका कोई दोष नहीं देखे किन्तु कर्मों से आवृत आत्माएँ ऐसी ही होती हैं ऐसा विचार कर ऐसे मनुष्यों के प्रति अप्रीति नहीं अपनाते ऐसे पुरुष वास्तव में योगी हैं। जिसकी दृष्टि में न कोई अपना है और न कोई पराया किन्तु जो सबको एक बराबर मानता है वह योगी है। जिसकी इन्द्रियों में आसक्ति नहीं, जिसे मद बिलकुल नहीं सताता, जिसमें कषाय नहीं और जिसका धर्म हर समय जागृत अवस्था में रहता है वह परम योगी है।

संक्षेप में, जो महात्मा सांसारिक व्यवहारों की मान्यताओं से अलग रहकर यह जानता है कि मेरा हित किसमें है और तदनुसार कार्य भी करता है, वह शुद्ध योगी है। ऐसे योगियों के काया की प्रवृत्ति, वचन का उच्चार और मन का विचार सदा शुद्ध होता है। परमयोगी आनंदघनजी महाराज ने योगियों के लक्षण इस प्रकार बताये हैं :—

मान अपमान चित्तसमगणे, समगणे कनक पाषाण रे;
वन्दक निन्दक समगणे, इस्यो होये तू जाण रे ॥शांति॥ ९॥

सर्व जगतजन्तु ने समगणे, समगणे तृण मणि भाव रे;
मुक्ति संसार बेहु समगणे, मुणे भवजलनिधि नाव रे ॥शांति॥१०॥

आपणो आतमभाव जे, एक चेतना धार रे;
अवर सवि साथ संजोगथी, एह नीज परिकर सार रे ॥शांति॥११॥

समतावान् जीव का यह स्वरूप है।

समता के अंग—चार भावना

भजस्व मैत्रीं जगदंगिराशिषु, प्रमोदमात्मन् गुणिषु त्वशेषतः ।
भवार्त्तिं दीनेषु कृपारसं सदा-प्युदासवृत्तिं खलु निर्गुणेष्वपि ॥१०॥

"हे आत्मा ! जगत् के सर्व प्राणियों पर मैत्री भाव रख; सर्व गुणवान पुरुषों की तरफ संतोष दृष्टि रख; संसार की पीड़ा से दुखी प्राणियों पर कृपा (दया) रख और निर्गुणी प्राणियों पर उदासीन वृत्ति अर्थात् माध्यस्थ भाव रख" ॥१०॥

चार भावनाओं का संक्षिप्त स्वरूप

मैत्री परस्मिन् हितधीः समग्रे, भवेत्प्रमोदो गुणपक्षपातः ।
कृपा भवार्त्ते प्रतिकर्तुमीहोपेक्षैव माध्यस्थमवार्यदोषे ॥११॥

"संसार में जितने भी दूसरे प्राणी हैं उनका हित करने की बुद्धि यह मैत्री भावना—(प्रथम) गुणों का पक्षपात (दूसरी) प्रमोद भावना; संसार रूपी व्याधि से दुखी प्राणियों के दुःख दूर करने की इच्छा यह (तीसरी) कृपा भावना; और जो दोष मिट नहीं सकते ऐसे दोष युक्त प्राणियों पर उदासीन भाव (चौथी) माध्यस्थ भावना" ॥११॥

इन्हीं चार भावनाओं को हरिभद्रसूरि जी ने इस प्रकार बताया है—

परहितचिन्ता मैत्री, परदुःखविनाशिनी तथा करुणा ।
परसुखतुष्टिर्मुदिता, परदोषोपेक्षणमुपेक्षा ॥१२॥

"दूसरे प्राणियों का हित-चिन्तन 'मैत्री भावना'; दूसरों के दुःखों के नाश करने की इच्छा अथवा चिन्ता 'करुणा भावना'; दूसरों के गुण और सुख देखकर आनन्द मानना ये 'प्रमोद भावना' और दूसरों के दोषों को देख उनकी उपेक्षा करना 'उपेक्षा भावना' है ।" ॥१२॥

'मैत्री भावना' का स्वरूप

मा कार्षीत्कोऽपि पापानि, मा च भूत्कोऽपि दुःखितः ।
मुच्यतां जगदप्येषा मतिर्मैत्री निगद्यते ॥१३॥

विवेचन :—संसार का स्वरूप बताने वाली बारह भावनाएँ अलग हैं। यहाँ (मैत्र्यादि) संसार के जीवों के प्रति किस तरह का बर्ताव रखना चाहिये ये चार भावनाएँ बताई गई हैं :—प्रथम मैत्री भावना (Universal Brotherhood) यह बहुत ही महत्व का (Important) विषय है। इस युग की कैसी विचित्रता है कि इन्हीं चार भावनाओं का नाश हो रहा है। यदि इन चारों भावनाओं को अच्छी तरह समझ कर इस संसार में इनका प्रचार हो जाय तो सब लड़ाई झगड़े बन्द होकर शान्ति का साम्राज्य स्थापित हो जावे। इन भावनाओं का स्वरूप ठीक तरह समझ लेने पर ज्ञात होगा कि आजकल की मानी हुई कर्त्तव्य-परायणता कहाँ तक उपयुक्त है। आज की कर्त्तव्य-परायणता में स्वार्थ की दुर्गन्ध है। इन चार भावनाओं पर आधारित कर्त्तव्य-परायणता में स्वार्थ त्याग है। आधुनिक कर्त्तव्य-परायणता का क्षेत्र बहुत संकीर्ण है और चार भावनाओं से युक्त कर्त्तव्य-परायणता का क्षेत्र बहुत विशाल है। चारों भावनाओं को श्री हेमचन्द्र आचार्य ने इस प्रकार समझाया है :—

'कोई भी प्राणी किसी के प्रति दुष्कर्म न करे' ऐसी बुद्धि मैत्री भावना है। मनुष्य जितनी मात्रा में पाप नहीं करेगा उतना ही वह नए कर्म बन्धन से बचेगा और शुभ इच्छा से उसकी निर्जरा स्थिति बनेगी। मैत्री भाव वाला व्यक्ति यह भी चाहेगा 'कि कोई भी प्राणी दुखी न हो' इस भावना से उसके मन की विशालता का बोध होता है। ऐसी भावना वाला प्राणी सबको सुखी देख स्वयं भी सुखी होता है। भगवान् महावीर ने भी तीसरे भव में ऐसी ही भावना भाई थी "कि सब जीव करू शासन रसी अस भाव दया मन उल्लसी।" इसके परिणाम-स्वरूप भगवान् ने तीर्थंकर गोत्र बाँधा। मैत्री भावना वाला व्यक्ति अपने सुख की कम चिन्ता करता है। वह तो परहित में आनन्द मानता है, क्योंकि स्वहित तो स्वाभाविक है, इससे उसके चित्त को शान्ति मिलती है। ये विचार कितनी उच्च श्रेणी के हैं और अनुकरणीय हैं!

उपाध्याय श्री विनयविजयजी महाराज ने कहा है

या रागदोषादिरुजो जनानां शाम्यन्तु वाक्कायमनोद्रुहस्ताः।
सर्वेऽप्युदासीनरसं रसं तु, सर्वत्र सर्वे सुखिनो भवन्तु ॥

"प्राणी के मन, वचन, काया के शुभ योगों का नाश करने वाली राग द्वेष आदि मानसिक व्याधियाँ शान्त हो जावें अर्थात् सब प्राणी वीतराग हो जावें, सब प्राणी माध्यस्थभावी हों और सब प्राणी सुखी हों।" यह कितनी उच्च भावना है। इस भावना में प्राणिमात्र का भला चाहा है, चाहे वह प्राणी किसी भी देश, समुदाय अथवा धर्म का हो। श्री बृहत् शान्ति स्तोत्र में भी ऐसी ही भावना दरशायी है।

शिवमस्तु सर्वजगतः परहितनिरता भवन्तु भूतगणाः
दोषाः प्रयान्तु नाशं, सर्वत्र सुखी भवतु लोकः ॥

"सारे संसार का कल्याण हो—सभी परहित करने में तत्पर रहें, सब दोषों का नाश हो, सर्व जगत् के प्राणी सुखी हों" यह कितनी उच्च भावना है। इन शब्दों के बोलने वालों के परिणाम भी कितने शुद्ध होते हैं और सुनने वालों की भावना भी पवित्र हो जाती है। ऐसी ही भावना पाक्षिक प्रतिक्रमण करते समय बोली जाती है।

खामेमि सव्वजीवे, सव्वे जीवा खमंतु मे ।
मित्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झं न केणई ॥

पुण्य प्रकाश ग्रन्थ के स्तवन में कहा है—

सर्व मित्र करी चिन्तवो साहेलडीरे, कोई न जाणो शत्रु तो;
रागद्वेष एम परिहरी साहेलडीरे, कीजे जन्म पवित्र तो ।

इसका अर्थ स्पष्ट है। किसी को तुम शत्रु मत समझो, सब पर समभाव रखो। इसके उदाहरण शास्त्र में जगह जगह मिलते हैं। जैसे गजसुकुमाल, मैतार्य मुनि, खंदक मुनि आदि। स्वयं महावीर भगवान् ने भी चन्डकौशिक सर्प को, जिसने यद्यपि भगवान् को क्रोध में आकर डस लिया, शत्रु नहीं समझा। इसके विपरीत उसे उपदेश देकर उसे तार दिया। इससे बढ़ कर मैत्री भाव का क्या उदाहरण हो सकता है? अन्य शास्त्रों में भी कहा है कि :—

अष्टादशपुराणानां, सारात्सारः समुद्धृतः ।
परोपकारः पुण्याय, पापाय परपीडनम् ॥

"सब शास्त्रों का और १८ पुराणों का सार यही है कि परोपकार ही पुण्य है और पर को पीडा करना ही पाप है।" अतएव सब प्राणियों पर मैत्री भाव रखना चाहिये। यदि कोई अपने पर क्रोध करे या हानि पहुँचावे तो उसे अपने हृदय में सोचना चाहिये कि जो कुछ हुआ है वह मेरे किये हुए का ही फल हुआ है। इस प्रकार मन को समझा कर जगत् के सब जीवों पर मैत्री भाव रखें।

द्वितीय प्रमोद भावना का स्वरूप

अपास्ताशेषदोषाणां, वस्तुतत्त्वावलोकिनाम् ।
गुणेषु पक्षपातो यः स प्रमोदः प्रकीर्तितः ॥१४॥

"जिन्होंने अपने सब दोषों को दूर कर दिया है और वस्तु-तत्व को समझ लिया है, उनके गुणों पर पक्षपात (बहुमान) रखना—यह प्रमोद भाव कहलाता है ॥१४॥"

विवेचन :—जिन महापुरुषों ने अपने क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष आदि महान् दोषों को महान् प्रयास कर दूर कर दिया है और वस्तु स्वरूप को अच्छी तरह समझ लिया है ऐसे महात्मा पुरुषों का बहुत आदर करना चाहिये। जिन महापुरुषों ने अनेक उपसर्ग सहकर अपने कर्मों का क्षय किया है, अनेक ग्रन्थों को लिखकर वस्तु-तत्व का उपदेश कर संसार के समक्ष उसका असली स्वरूप बताया है, ऐसे महापुरुषों को मानभरी दृष्टि से देखना चाहिये। महात्मा पुरुषों का चरित्र अथवा जीवन-वृत्तान्त पढ़कर या सुन कर उनके गुणों की तरफ बहुत मान करना चाहिये। यही प्रमोद भावना है। इससे उनके गुणों को अपनाने की इच्छा होती है और थोड़ा ही प्रयास करने पर गुण प्राप्त हो जाते हैं।

एक बात जानने योग्य यह भी है कि जब कभी हम दूसरे की निन्दा करते हैं तब चित्त में एक प्रकार का क्षोभ होता है। परन्तु दूसरे के गुणों की व्याख्या करने से मन में आनन्द होता है। यही प्रमोद भावना है जो "समता" का एक अंग है।

तृतीय करुणा भावना का स्वरूप

दीनेष्वार्त्तेषु भीतेषु, याचमानेषु जीवितम् ।
प्रतिकारपरा बुद्धिः, कारुण्यमभिधीयते ॥१५॥

"अशक्त, दुखी, भय से व्याकुल, और जीवन की याचना करने वाले प्राणियों के प्रति उनके दुःखों को दूर करने की बुद्धि करुणा भावना कहलाती है।"

विवेचनः—दुःख अनेक प्रकार के होते हैं:—मानसिक, शारीरिक और भौतिक। दूसरे व्यक्तियों को इन दुःखों से छुड़ाने की बुद्धि करुणा भावना है। जो मनुष्य रात दिन सांसारिक सुख के लिये अनेक कष्ट उठाते हैं और शुद्ध देव, गुरु, धर्म को नहीं जानते और अनेक पाप कर्म कर भवचक्र में डूबते हैं उनको भी जगत् का स्वरूप समझाकर शासन-रसिया बनाने की इच्छा भी करुणा भावना है। "सब जीव करु शासन रसी अस भाव दया मन उल्लसी" यह भगवान् की उत्कृष्ट करुणा भावना थी जिससे उन्होंने तीर्थंकर गोत्र कर्म बाँधा। इस करुणा भावना से ही मैत्री भाव जागृत होता है। शान्तिसुधारस ग्रन्थ में कहा है :—

परदुःखप्रतीकारमेवं ध्यायन्ति ये हृदि ।
लभन्ते निर्विकारं ते, सुखमायति-सुन्दरम् ॥

"जो मनुष्य दूसरे जीव के दुःख को हटाने का उपाय हृदय में विचारता है उसे सुन्दर और विकार रहित सुख मिलता है।" इस प्रकार की बुद्धि से जो सुख मिलता है वह परिणाम में भी सुन्दर होता है। साधारण सुख तो क्षणिक और परिणाम में दुःख देने वाला होता है पर यह सुख परिणाम में सुन्दर होता है और इसमें विकार भी नहीं होता।

चौथी माध्यस्थ्य भावना का स्वरूप

क्रूरकर्मसु निःशंकं, देवतागुरुनिन्दिषु ।
आत्मशंसिषु योपेक्षा, तन्माध्यस्थ्य मुदीरितम् ॥१६॥

अहंकार करने का कोई कारण नहीं रहेगा। अद्भुत काम करने वाले व्यक्ति को भी अहंकार नहीं करना चाहिये उसने चाहे भगवान् महावीर के समान तपस्या, गजसुकुमाल के समान क्षमा, स्कंदमुनि के समान समता, विजय सेठ या स्थूलिभद्रजी के समान ब्रह्मचर्य पालन किया हो अथवा किसी समाज या देश का कोई अद्वितीय महान् कार्य किया हो। ऐसे कुछ भी अद्भुत काम किये बिना ही झूठी स्तुति सुनने की इच्छा रखना और अहंकार करना कहां तक उचित है? जब इस प्रकार के विस्मयकारी कार्य करने वाले महात्मा न स्तुति सुनने की इच्छा रखते हैं, न कभी मन में अहंकार लाते हैं तो हम किस गिनती में हैं?

ज्ञानी का लक्षण

गुणस्तवैर्यो गुणिनां परेषामाक्रोशनिन्दादिभिरात्मनश्च।
मनः समं शीलति मोदते वा, खिद्येत च व्यत्ययतः स वेत्ता ॥१९॥

"दूसरे गुणवान् प्राणियों के गुणों की प्रशंसा सुनकर अथवा दूसरों से अपनी निन्दा सुनकर जो अपने मन को चलित नहीं होने देता अपितु प्रसन्न होता है, और गुणीजनों की बुराई तथा अपनी बड़ाई सुनकर दुखी होता है वही प्राणी ज्ञानी है॥ १९॥"

विवेचन :—ज्ञानी पुरुष अपने गुणों की प्रशंसा सुन अपनी स्थिति-स्थापकता नहीं खोता, और अधम आदमी दूसरे के गुण सुनकर ईर्ष्या करता है। वह उसे नीचा दिखाने की चेष्टा करता है। ज्ञानी पुरुष दूसरों के गुण देखकर प्रसन्न होता है और उन्हीं गुणों को प्राप्त करने की चेष्टा करता है, किन्तु अधम वृत्ति वाला मनुष्य दूसरों के अवगुण ही देखता है और बुराई करता है। सार यह है कि ज्ञानी पुरुष अपनी प्रशंसा सुन प्रसन्न नहीं होता और न बुराई सुन क्रोध करता है, किन्तु वह, तो सदा समभाव में रहता है।

अर्थ :—"हे चेतन ! जब चेतन और अचेतन पदार्थों में रमे हुए स्पर्श, रूप, गंध, रव (शब्द) और रस में तेरा जीव समता प्राप्त करेगा तब ही मोक्ष का सुख तेरे हाथ में आवेगा ॥१७॥"

विवेचन :—जो चार भावनाएं समता-प्राप्ति का प्रथम साधन हैं ऊपर बता चुके हैं। अब दूसरे साधन—इन्द्रिय-दमन—की विवेचना करते हैं। हे चेतन ! सब चेतन और अचेतन पदार्थों में रमे हुए स्पर्श, रूप, रस, शब्द और गंध के प्रति यदि चित्त समता प्राप्त करता है तो मोक्ष निकट ही है। मधुर गान, नाच, रंग, रस, सुगन्धि और स्तनों का स्पर्श ये सब इन्द्रियों की करतूतें परमार्थ का नाश करने वाली हैं। ये सब इन्द्रियाँ मनुष्य को संसार में भटकाने वाली हैं। पाँचों इन्द्रियों के विषयों के राग द्वेष में न फंसना मोक्ष प्राप्ति का उत्तम साधन है। इन में क्षणिक सुख तो जरूर है पर अन्त में वह दुःख का हेतु है। जीव को वह मोक्ष मार्ग से दूर ले जाने वाला है। इसलिये इन्द्रियों के विषयों में संयम रखना बहुत आवश्यक है। यह समता का दूसरा साधन है।

समता—प्राप्ति का तीसरा साधन—आत्मशिक्षा पर विचार करना

के गुणास्तव यतः स्तुतिमिच्छस्यद्भुतं किमकृथा मदवान् यत्।
कैर्गता नरकभीः सुकृतैस्ते, किं जितः पितृपतिर्यदचिन्तः ॥१८॥

अर्थः—"तुझमें ऐसा कौनसा गुण है जिससे तू स्तुति की इच्छा रखता है ? तूने ऐसा क्या आश्चर्यकारी काम किया है जो तू अहंकार करता है ? तेरे कौन से सुकृत्य हैं कि जिनके कारण नरक का भय मिट गया है ? क्या तूने यम को जीत लिया है कि जिससे तू निश्चिन्त हो गया है ? ॥ १८ ॥

विवेचनः—आत्मशिक्षण का अर्थ है वस्तुस्वरूप तथा आत्मस्वरूप पर विचार करना और इन्हें पहचानना। जब यह समझ में आ जायगा कि आत्मा क्या है, पुद्गल क्या है, और इनका सम्बन्ध क्या है, वह कैसा है और क्यों है तो तुम्हारे मन में शांति अवश्य आ विराजेगी और अपनी आत्मा का सच्चा स्वरूप सामने आजायगा। फिर स्तुति सुनने अथवा

अहंकार करने का कोई कारण नहीं रहेगा। अद्भुत काम करने वाले व्यक्ति को भी अहंकार नहीं करना चाहिये उसने चाहे भगवान् महावीर के समान तपस्या, गजसुकुमाल के समान क्षमा, स्कंदमुनि के समान समता, विजय सेठ या स्थूलिभद्रजी के समान ब्रह्मचर्य पालन किया हो अथवा किसी समाज या देश का कोई अद्वितीय महान् कार्य किया हो। ऐसे कुछ भी अद्भुत काम किये विना ही झूठी स्तुति सुनने की इच्छा रखना और अहंकार करना कहां तक उचित है? जब इस प्रकार के विस्मयकारी कार्य करने वाले महात्मा न स्तुति सुनने की इच्छा रखते हैं, न कभी मन में अहंकार लाते हैं तो हम किस गिनती में हैं?

ज्ञानी का लक्षण

गुणस्तवैर्यो गुणिनां परेषामाक्रोशनिन्दादिभिरात्मनश्च ।
मनः समं शीलति मोदते वा, खिद्येत च व्यत्ययतः स वेत्ता ॥१९॥

"दूसरे गुणवान् प्राणियों के गुणों की प्रशंसा सुनकर अथवा दूसरों से अपनी निन्दा सुनकर जो अपने मन को चलित नहीं होने देता अपितु प्रसन्न होता है, और गुणीजनों की बुराई तथा अपनी बड़ाई सुनकर दुखी होता है वही प्राणी ज्ञानी है ॥ १९ ॥"

"हे आत्मा! तेरा शत्रु कौन है और मित्र कौन है तू यह नहीं पहिचानता है तेरा हित करने वाला कौन और अहित करने वाला कौन है यह भी तू नहीं जानता। तेरा क्या है और दूसरे का क्या है यह भी तू नहीं जानता। तू दुःख से द्वेष करता है और सुख प्राप्त करना चाहता है परन्तु उनके कारणों को न जानने से तुझे इच्छित वस्तु कैसे मिल सकती है? ॥ २० ॥"

विवेचन :—हे जीव तू यह नहीं जानता कि तेरे दुश्मन कौन है और उनकी शक्ति कितनी है। यह जब तक तू नहीं जानता तब तक उन पर जय कैसे प्राप्त कर सकता है? तेरे वास्तविक शत्रु तो राग द्वेष, उनसे उत्पन्न कषाय-वेदोदय, मोह तथा मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और योग हैं और उपशम, विवेक, संवर आदि तेरे मित्र हैं। इनको तू अच्छी तरह समझ तथा इनकी शक्ति को ध्यान में रख आत्मगुण को प्राप्त कर।

तू और तेरा शरीर ये दोनों अलग अलग वस्तुएँ हैं। तू तो आत्मा है और शेष शरीर, वस्त्र आदि सब पदार्थ पौद्गलिक हैं। ये वस्तुएँ तेरी आत्मा से पृथक हैं। इन पौद्गलिक वस्तुओं को तूने अपना मान रखा है यही तेरी भूल है। क्योंकि अनन्त जन्मों से तेरा और इनका सम्पर्क चला आ रहा है। जब तक आत्मा तथा पौद्गलिक शरीर का सम्बन्ध तुझे मालूम नहीं होता तब तक वस्तुस्वरूप अथवा आत्मा का स्वरूप नहीं जाना जा सकता। जब तक आत्म-स्वरूप नहीं समझ में आता तब तक समता प्राप्त नहीं हो सकती। यह समता प्राप्त करने का तीसरा साधन है।

कौनसी वस्तु ग्रहण करने योग्य है?

कृती हि सर्वं परिणामरम्यं, विचार्य गृह्णाति चिरस्थितीह।
भवान्तरेऽनन्तसुखाप्तये तदात्मन् किमाचारमिमं जहासि ॥२१॥

"इस संसार में जो बुद्धिमान् पुरुष हैं वे ऐसी वस्तु ग्रहण करते हैं जो लम्बे समय तक साथ दे और उसका परिणाम भी सुन्दर हो। इसलिये हे चेतन! इस भव के बाद अनन्त सुख प्राप्त करने का साधन धार्मिक आचार को क्यों तजता है? ॥ २१ ॥"

विवेचन :—बुद्धिमान् पुरुष जब किसी भी चीज को ग्रहण करता है तो यह देखता है कि यह वस्तु टिकाऊ है या नहीं और यह कहाँ तक उपयोगी है। कहीं ऐसा न हो कि वह वस्तु थोड़े दिनों तक तो अच्छी लगे और फिर किसी उपयोग की न रहे। जब तक पौद्‌गलिक वस्तु को ग्रहण करते समय इतना विचार नहीं किया जायगा तब तक वास्तविकता का ध्यान नहीं होगा। जो कुछ भी सुख सांसारिक हैं वे सब क्षणिक हैं। वे पहले तो अच्छे लगते हैं पर पीछे दुःख देते हैं। जवानी का आनन्द बुढ़ापे में दुखदायी हो जाता है। उसी प्रकार धन, यौवन यहाँ तक कि प्रत्येक पौद्‌गलिक वस्तु में क्षणिक सुख होता है परन्तु अन्त में दुःख ही दुःख है। अतएव किसमें कितना स्थायी सुख है यह जानने का प्रयत्न मनुष्य को करना चाहिये। तू कौन है ? तेरा क्या है ? और तेरा कर्तव्य क्या है ? ये सब चीजें तेरी किस तरह हैं और तेरा सम्बन्ध इनके साथ कैसा है ? इन बातों को बार बार सोचना चाहिये। इस प्रकार आत्म-निरीक्षण करने से ही स्व-पर वस्तु का ज्ञान होगा। इस प्रकार विचार न करने पर प्रायः मिला हुआ भी सद्‌उपदेश निष्फल हो जाता है। धर्म-बुद्धि से किया हुआ कार्य भी अज्ञानता के कारण पाप का हेतु हो जाता है। आत्मविचार करने वाला हर कार्य की छान-बीन करता है, हरदम जागृत रहता है और अपनी शक्ति का नाश नहीं करता। आत्मविचार से और भी अनेक प्रकार के लाभ होते हैं। इसलिये हे चेतन ! अब भी चेत और आत्म विचार किया कर।

राग-द्वेष के किये हुए विभागों का विचार

निजः परो वेति कृतो विभागो, रागादिभिस्ते त्वरयस्तवात्मन्।
चतुर्गतिक्लेशविधानतस्तत्, प्रमाणयन्नस्यरिनिर्मितं किम् ॥२२॥

"हे चेतन ! तेरा, मेरा और पराया ऐसा विभाग राग-द्वेष का किया हुआ है। चारों गतियों में अनेक प्रकार के क्लेश कराने वाला होने से राग-द्वेष तो तेरे शत्रु हुए। ऐसी स्थिति में तू शत्रु के बनाये हुए विभाग को क्यों मानता है ? ॥ २२ ॥"

भावार्थ :—श्रीमद्‌यशोविजयजी महाराज अष्टक में लिखते हैं : "अहं ममेति मंत्राऽयं मोहस्य जगदांध्यकृत्" अर्थात् मैं और यह मेरा

विवेचन :—इस संसार में माता, पिता, पुत्र आदि के सम्बन्ध अति सुखद और प्रेममय माने जाते हैं। परन्तु यह प्रेम कर्मजनित, स्वार्थवश और व्यावहारिक है। यह इतना अस्थिर है कि जहां स्वार्थ को जरा सा धक्का लगा कि ये नष्ट हुए। अस्थिर ही नहीं, कभी कभी एक दूसरे के शत्रु भी बन जाते हैं। ऐसे अनेक उदाहरण संसार में देखे जाते हैं। जिस प्रकार यह शरीर भी अपना नहीं, उसी प्रकार संसारी सम्बन्धी भी अपने नहीं। सम्बन्धी भी समय आने पर छोड़ कर चले जाते हैं। जो छोड़ जाय वह अपना नहीं हो सकता।

प्रत्येक मनुष्य को अपने कर्म के अनुसार सुख दुःख भोगने के लिए संसार का व्यवहार चलाना पड़ता है परन्तु ऐसे व्यवहार में उसे लिप्त नहीं होना चाहिये। केवल अपना कर्त्तव्य (Duty) समझ कर ही सबके साथ वर्ताव करना चाहिये। इस प्रकार मनुष्य अपने पूर्व कृत पुण्य या पाप को बिना लिप्त हुए अर्थात् समता से भोगे। इस प्रकार पुराने कर्मों की निर्जरा होगी और नये कर्मों का बंध रुकेगा। ऐसी समता रखने वाला इन संसारी संबंधों को चित्रवत् मानता है।

समता को पहचानने वालों की संख्या

जानन्ति कामान्निखिलाः ससंज्ञा, अर्थं नराः केऽपि च केऽपि धर्मम् ।
जैनं च केचिद् गुरुदेवशुद्धं, केचित् शिवं केऽपि च केऽपि साम्यम् ॥२५

"सब संज्ञा वाले प्राणी 'काम' को जानते हैं। उनमें से कितने ही अर्थ (धनप्राप्ति) को जानते हैं उनमें से कितने ही (थोड़े) धर्म को जानते हैं उनमें से कुछ ही जैन धर्म को जानते हैं और उनमें बहुत थोड़े ही शुद्ध तथा देवगुरु-युक्त जैन धर्म को जानते हैं और उनमें से भी बहुत थोड़े जन मोक्ष को जानते हैं और उनमें से भी बहुत थोड़े प्राणी "समता" को जानते हैं ॥ २५ ॥"

विवेचनः—सब संसारी जीव कर्मों से आवृत होने के कारण समता को नहीं पहचानते और न उसका आदर करते हैं। अनादि अभ्यास के कारण यह जीव सदा पतन के रास्तों को अपनाता है और कर्म सत्ता के आधीन हो विषय (काम) वासना की ओर दौड़ता है। इसका कारण अनादिकाल से जीव का मैथुन संज्ञा से संबंध है।

सब संज्ञी (जिनमें संज्ञा हो) प्राणियों में मनुष्य धनप्राप्ति के विषय को अच्छी तरह जानता है और अनेक रीति —न्याय या अन्याय —से धन संचय करता है। वह धन के लिये रात दिन परिश्रम करता है, नीच की नौकरी करता और न करने योग्य कार्य भी करता है। धन प्राप्ति में लोग अन्धे होकर मशीन की तरह काम करते हैं और जरा भी आराम नहीं करते और कुछ लोग प्राप्त धन के रक्षण में या मौज, शौक तथा इंद्रियों के भोगों में लिप्त रहते हैं, वे लेशमात्र भी धर्म को नहीं जानते। विशेषकर वे लोग जो पश्चिम सभ्यता का अनुसरण करते हैं वे धर्म को कतई नहीं जानते। कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो धर्म को जानते हैं परन्तु शुद्ध धर्म के ज्ञानी नहीं होने से धर्म के नाम पर हिंसा का पालन करते हैं। पर ऐसे मनुष्य बहुत थोड़े हैं जो संसार से सर्वथा मुक्त कराने वाले, शुद्ध आत्मदशा का स्वरूप बतलाने वाले और मन तथा शरीर को कष्ट देने वाली उपाधियों से छुड़ाने वाले श्री जिनेश्वर भगवान् के बताये हुए शुद्ध धर्म के ज्ञाता हों। श्रद्धा रखने वाले व्यक्ति तो उनसे भी कम हैं। मोक्ष का स्वरूप जानने वालों की संख्या तो बहुत कम है। समता ही मोक्ष का साधन है तथा समता ही ज्ञान तथा क्रिया का मिश्रण है इस वार्ता को तो विरला ही मनुष्य जानता है। मनुष्यों को जानना चाहिये कि 'समता' में ही सुख है और 'समता' ही मोक्ष देने वाली है।

सहज सम्बन्धियों का स्नेह स्वार्थमय है। यह जानकर तुम भी अपनी स्वार्थसिद्धि में क्यों नहीं लगते ? यह 'समता' का चौथा साधन है।

स्निह्यन्ति तावद्धि निजा निजेषु, पश्यन्ति यावन्निजमर्थमेभ्यः।
इमां भवेऽत्रापि समीक्ष्य रीतिं, स्वार्थे न कः प्रत्यहिते यतेत ॥२६॥

"सहज सम्बन्धी लोग जब तक अपने सगे सम्बन्धी में स्वार्थ देखते हैं तब तक स्नेह रखते हैं। जब इस भव में ऐसी (स्वार्थपन) रीति है तो हम परभव में स्वार्थ के लिये क्यों नहीं प्रयत्न करें ? ॥ २६ ॥"

विवेचनः—यह सब संसार स्वार्थी है। जहां स्वार्थ है वहाँ प्रेम है। स्वार्थ पूरा हुआ और प्रेम का अन्त हुआ। मनुष्य जब तक जवान है, वह काम करने में या रुपया कमाने में समर्थ है उसके पास जब तक

धन है, शक्ति है, अच्छी स्थिति अथवा रूप यौवन है, तभी तक उससे सब स्नेह करते हैं। जैसे ही इन चीजों में कमी आई वैसे ही स्नेह भी धीरे धीरे कम होने लगता है। वृद्ध मनुष्य के मरने पर कोई शोक नहीं करता। धनहीन, शक्तिहीन को कोई नहीं पूछता। जवानी तथा रूप के हटने पर पति पत्नी में स्नेह कम होने लगता है। इस प्रकार स्नेह सब स्वार्थ का है। इसका यह अर्थ नहीं कि तुम मोह-त्याग के नाम पर गृहस्थ जीवन की जिम्मेदारियों से भाग जाओ। जब तक संसार में रहना है तब तक अपनी सब संसारी जिम्मेदारियाँ ठीक ठीक निभाना ही चाहिये। केवल तुम्हें अपना दृष्टिकोण बदलना चाहिये। अपनी जिम्मेदारियाँ अनासक्त भाव से निभानी चाहियें। तेरा स्वार्थ क्या है तू यह अच्छी तरह समझ ले। तेरा असल स्वार्थ तो इस भव और परभव में सच्चा आनन्द तथा आत्महित प्राप्त करना है। तू इसी स्वार्थ को प्राप्त करने में उद्यत रह! यह स्वार्थ कैसे प्राप्त किया जाय यह जानने का प्रयास कर और क्षणिक नीच स्वार्थ की इच्छा त्याग दे। तू मन को वश में रख कर संसार में उदासीनता से रह और सत्य व्यवहार, दान, दया, क्षमा आदि धारण कर; तेरा स्वार्थ सिद्ध हो जायगा। इस प्रकार का स्वार्थसाधन समता प्राप्ति का चौथा उपाय है।

पौद्गलिक पदार्थों की अस्थिरता—स्वप्नदर्शन

स्वप्नेन्द्रजालादिषु यद्वदाप्तै रोषश्च तोषश्च मुधा पदार्थैः।
तथा भवेऽस्मिन् विषयैः समस्तैरेवं विभाव्यात्मलयेऽवधेहि॥२७॥

"जिस प्रकार स्वप्न अथवा इन्द्रजाल आदि में प्राप्त वस्तुओं पर गुस्सा करना अथवा संतोष करना एकदम निरर्थक है उसी प्रकार इस भव में प्राप्त पदार्थों पर भी (गुस्सा करना अथवा प्रसन्न होना) व्यर्थ है। इस प्रकार विचार कर तू आत्मसमाधि में तत्पर हो।"

भावार्थः—कुसुमपुर में एक भिखारी था। उसने भीख मांगकर कुछ खाद्य पदार्थ इकट्ठा किया, उसे गाँव के बाहर एक वृक्ष की शीतल छाया में बैठ कर खा लिया और वहीं सो गया। उसने स्वप्न में देखा

कि उसे राज्य मिल गया है, अच्छे अच्छे भोग मिले हैं, स्त्रियाँ मिली हैं तथा वह राजसभा में बैठा है और उस पर चँवर ढुलाए जा रहे हैं, भाट विरुदावली गा रहे हैं, मंत्री तथा सब प्रजा के बड़े बड़े पुरुष सेवा में खड़े हैं। यह सब देख उसके मन में बहुत आनन्द हुआ। इतने में जैसे ही उसकी नींद खुली तो वह देखता है कि न तो सिंहासन है और न राज दरबार के वैभव या प्रभुता। उसके पास उसकी केवल फटी गुदड़ी और उसका झूठा ठीकरा पड़ा है। इससे यह समझना चाहिये कि यह संसार भी इस स्वप्न के समान है। प्रथम तो संसार में सुख है ही नहीं, जो कुछ है भी वह क्षणिक तथा कल्पित और अन्त में मानसिक दुःख बढ़ाने वाला है। इसलिये इस संसारी सुख में आसक्ति रखना एकदम निरुपयोगी ही नहीं अपितु हानिकारक भी है। इसी प्रकार यदि कोई ऐसा पदार्थ मिले जो अपने को रुचिकर न हो तो क्रोध नहीं करना चाहिये, क्योंकि कोई भी वस्तु स्वयं तो अपना कुछ बनाती या बिगाड़ती नहीं। इसलिये ऐसी स्थिति में मनुष्य को अपने मन को किस तरह समझाना चाहिये यह बुद्धिमान् स्वयं विचार ले। इसलिये अच्छी या बुरी वस्तु मिलने पर हर्ष या शोक करना यह वस्तुस्वरूप के अज्ञान का द्योतक है।

इसलिये सांसारिक किसी भी पदार्थ में सुख मानना या इन्द्रियों के किसी भी विषय में स्थिरता मानना उचित नहीं है। पौद्‌गलिक सुख सुख नहीं है। यदि सुख है तो जीव के अपने सहज धर्म प्राप्त करने में और उसीमें लीन हो जाने में है। इसलिये आत्मलय प्राप्त करना ही कर्त्तव्य है। यह समता प्राप्ति का चौथा साधन है।

मृत्यु पर विचार तथा ममत्व का वास्तविक स्वरूप

एष मे जनयिता जननीयं, बंधवः पुनरिमे स्वजनाश्च।
द्रव्यमेतदिति जातममत्वो, नैव पश्यसि कृतांतवशत्वम् ॥२८॥

"ये मेरे पिता हैं, यह मेरी माता है, ये मेरे भाई हैं, ये मेरे सगे सम्बन्धी हैं, यह मेरा धन है, इस प्रकार का विचार तेरी ममता है। क्या तूने यम को अपने वश में कर लिया है जो तू बेफिकर है ? ॥२८॥"

विवेचन :—ममता ही संसार में दुःख का कारण है। यह जानते हुए भी ममता में लोग सुख मानते हैं। ममता में पड़े मनुष्य की स्थिति एक शराबी के समान है जो भला बुरा नहीं समझता। यह निश्चित और सही है कि जो आया है वह जायगा अवश्य। ऐसा समझ कर मनुष्य को धर्माचरण करना चाहिये "गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्" ऐसे आचरण करने से इस जन्म में मृदुता आवेगी और कर्म-क्षय भी होगा। दूसरा भव भी सुधरेगा। भाई-बन्धु-स्त्री, पुत्र, धन दौलत आदि सांसारिक किसी भी वस्तु का मोह जीव को बचाने वाला नहीं है।

विषयों में मोह—उसका स्वरूप तथा समता अपनाने का उपदेश

नो धनैः परिजनैः स्वजनैर्वा, दैवतैः परिचितैरपि मंत्रैः।
रक्ष्यतेऽत्र खलु कोऽपि कृतांतान्नो विभावयसि मूढ किमेवम् ॥२९॥
तैर्भवेऽपि यदहो सुखमिच्छंस्तस्य साधनतया प्रतिभातैः।
मुह्यसि प्रतिकलं विषयेषु, प्रीतिमेषि न तु साम्यसतत्त्वे ॥३०॥

"धन, सगे-सम्बन्धी, प्रेमी, नौकर-चाकर, देवता अथवा परिचित मित्र कोई भी यम से रक्षा नहीं कर सकता। हे अल्पज्ञ प्राणी! तू इस प्रकार क्यों नहीं विचार करता कि सुख देने वाली सब वस्तुओं [धन, नौकर, सगा आदि] के द्वारा सुख पाने की इच्छा से प्रत्येक क्षण हे भाई! तू विषयों में आसक्त रहता है पर तू समता रूपी असली रहस्य को क्यों नहीं प्राप्त करता? ॥२८—३०॥"

भावार्थ :—मनुष्य ममता के कारण यह भूल जाता है कि एक दिन मरना है। पैसा-रुपया की तो बात ही क्या, देवता भी मरण भय को एक मिनट के लिये टाल नहीं सकता। अनन्त वीर्यवान् श्रीमान्-महावीर परमात्मा भी जीवित रहने से जगत् का बहुत उपकार होवेगा यह जानते हुए भी मृत्यु को एक क्षण भर भी नहीं टाल सके और स्पष्ट रीति से कह गये कि मृत्यु को एक मिनट भी टालने में कोई भी समर्थ नहीं है। ऐसी स्थिति में इन सगे सम्बन्धियों में तू सुख क्यों कर मानता है? वास्तव में सुख नाम की वस्तु संसार में है ही नहीं।

सांसारिक-वस्तुओं में सुख मानना भूल है। इस भूल के कारण संसार की विषय-वासना तथा इन्द्रिय सुख आदि में व्यस्त होकर जीव फिर चौरासी लक्ष योनियों में घूमता है। इसलिये हे भाई! तू समझ और वास्तविकता तथा वस्तुओं के शुद्ध स्वरूप को पहिचान। यह संसार विषय-वासना से भरा हुआ है और इन्द्रजाल के समान है। वास्तविकता तो दूसरी ही वस्तु है। इसलिये इस संसार-चक्र से बचने के लिए समता से प्रीति क्यों नहीं करता? समता के अपनाने से अनेक जीव सुखी हुए हैं। तेरी स्थिति भी सुधरेगी। इस समता में ही अपना स्वार्थ है। इस स्वार्थ-साधना में तू तत्पर हो, अन्य सब साधन वृथा हैं। यह स्वार्थ-साधना समता का प्रथम अंग है। सब जीवों, सब वस्तुओं पर समभाव रखना, कषाय का त्याग करना, विषयों से बचना, आत्म-परिणति जागृत करना आदि सब साधन संक्षेप में समता के उपाय हैं।

कषाय का असली स्वरूप और उसके त्याग का उपदेश।

किं कषायकलुषं कुरुषे स्वं, केषुचिन्ननु मनोऽरिधियात्मन्।
तेऽपि ते हि जनकादिकरूपैरिष्टतां दधुरनन्तभवेषु ॥२१॥

"हे आत्मन्! अनेक प्राणियों पर शत्रु-बुद्धि रख कर तू अपने मन को क्यों कलुषित करता है?, क्योंकि सम्भव है, उन्होंने पिछले अनेक जन्मों में तेरे माता पिता के रूप में तेरी प्रीति अनेक बार पाई होगी॥२१॥"

विवेचन :—जब हम किसी पर क्रोध करते हैं तो हमारे मुख की आकृति बिगड़ जाती है, आँख और मुख लाल हो जाते हैं और शरीर गरम हो जाता है, मन वश में नहीं रहता अर्थात् अपनी असली अवस्था छूट कर कृत्रिम अवस्था हो जाती है। इस कृत्रिम अवस्था में कोई आनन्द नहीं, उल्टा दुःख ही होता है। अतः क्रोध कर ऐसी कृत्रिम अवस्था क्यों प्राप्त करना? इसकी अपेक्षा यदि क्षमा धारण की जाय तो हानि तो कुछ भी नहीं होती, बल्कि चित्त को शान्ति मिलती है और बुद्धि स्थिर रहती है। इससे यह ज्ञात होता है कि क्षमा-मार्ग सुखद है और मोक्ष देने वाला है। यहां यह भी सोचना चाहिये कि जिस पर तू क्रोध करता है संभव है कि वह किसी जन्म में तेरा प्रीति-पात्र अथवा तेरा

माता-पिता भी हुआ होगा। इसलिए जीव पर क्रोध करना विवेकी व्यक्ति का काम नहीं। क्रोध समता का विरोधी है।

शोक का सही स्वरूप—और उसको त्यागने का उपदेश

यांश्च शोचसि गताः किमिमे मे, स्नेहला इति धिया विधुरात्मन्।
तैर्भवेषु निहतस्त्वमनन्तेष्वेव तेऽपि निहता भवता च ॥२२॥

"क्या मेरा स्नेही मर गया! इस प्रकार की बुद्धि से व्याकुल होकर जिनके लिये तू शोक करता है उन्हीं व्यक्तियों से तू अनन्त जन्मों में मारा गया होगा या तूने भी उनको मारा होगा ॥२२॥"

भावार्थ :—इस श्लोक का तात्पर्य यह कि जिस प्रकार जीव पर कषाय करना निरर्थक है उसी प्रकार उसके लिये शोक करना भी निरर्थक है। अपने बन्धु, माता-पिता आदि की मृत्यु पर शोक करना अपने आत्मिक गुणों का नाश करना है। शोक राग-मूलक है और संसार के बंधन का कारण है। वास्तव में तूने जो समय प्रमाद में खोया है उसका अफसोस कर कि इस अमूल्य समय में मैंने आत्महित साधन नहीं किया और वृथा ही भव-भ्रमण किया।

मोह-त्याग और समता में प्रवेश

त्रातुं न शक्या भवदुःखतो ये, त्वया न ये त्वामपि पातुमीशाः।
ममत्वमेतेषु दधन्मुधात्मन्, पदे पदे किं शुचमेषि मूढ ! ॥२३॥

"जिन स्नेहियों को भवदुःख से बचाने में तू असमर्थ है और वे तुझे बचाने में असमर्थ हैं उन पर झूठा ममत्व रख कर हे मूर्ख आत्मा ! तू पग-पग पर क्यों शोक करता है ? ॥२३॥"

भावार्थ :—जिन व्यक्तियों के पास सब सुख के साधन उपलब्ध थे और अपने को सब से बड़ा मानते थे ऐसे शालिभद्रजी को जब ज्ञात हुआ कि उनसे भी कोई बड़ा है तो उनके मन में वैराग्य उत्पन्न हो गया और भगवान् के पास दीक्षा ली। अनाथी मुनि को जब दाह-ज्वर हुआ

और वह किसी भी तरह शान्त नहीं हुआ तब उन्हें निश्चय हुआ कि संसार में अपना कोई नहीं है। जिनके लिये वे स्वयं प्राण देने को तैयार रहते थे और जिनके लिये ये जीव संसार-त्याग करते समय भी अनेक बार विचार करते हैं, वे स्वजन भी किसी स्थिति तक ही साथ दे सकते हैं। इस संसार की वास्तविक स्थिति ऐसी ही है। संसारी जीव मोह राजा के बाँधे हुए मजबूत रस्सों से बँधा है। जो मोह राजा के बन्धनों को तोड़ता है उसका ही जन्म सफल है। यह जीव बार बार जन्म मरण के दुःख से दुखी है, और माने हुए सुख के पीछे पागल हो रहा है। सगे सम्बन्धियों के लिये वह भव-दुःख में पड़ता है, यह उस का अज्ञान है। मोह राजा की चालें हैं। इन से बचना चाहिये। अपनी स्वार्थ सिद्धि में लगे रहना चाहिये। ऐसे अनेक उदाहरण हैं जहाँ भद्र पुरुषों ने मोहजाल में फँसे होने पर भी विरक्ति प्राप्त कर सब बन्धनों का त्याग करते हुए मोक्ष प्राप्त किया है, जैसे नन्दीषेण और आर्दकुमार। ऐसे भी उदाहरण, सुनने में आते हैं कि कुछ भद्र पुरुष मोहजाल में फंसे ही नहीं जैसे गजसुकुमालजी, नेमीनाथजी आदि। अतएव पुरुषों! झूठे मोह को त्यागो और समता धारण करो।

समता द्वार का उपसंहार—राग द्वेष त्याग का उपदेश

सचेतनाः पुद्गलपिण्डजीवा अर्थाः परे चाणुमया द्वयेऽपि।
दधत्यनन्तान् परिणामभावांस्तत्तेषु कस्त्वर्हति रागरोषौ ॥३४॥

"पुद्गलपिण्ड से बना जीव सचेतन पदार्थ है, और परमाणुमय रुपया पैसा आदि अचेतन है। ये दोनों जाति के पदार्थ अनेक प्रकार के पर्यायभाव और परिवर्तनभाव रखते हैं। इसलिये इनके लिए राग द्वेष रखना कहां तक उचित है? ॥३४॥"

विवेचन :—इस संसार में सभी प्राणी—क्या मनुष्य क्या तिर्यंच सभी पुद्गल के बने हैं। सब अचेतन पदार्थ जैसे सोना, चाँदी, लकड़ी आदि सब पुद्गल ही के बने हैं। ये जीवधारी—चेतन पदार्थ—समय समय पर पर्याय अर्थात् रूप बदलते रहते हैं। ये कभी मनुष्य रूप में, कभी तिर्यच रूप में कभी देव या नारकी रूप में उत्पन्न

होते हैं। ये रूप कभी अच्छे लगते हैं और कभी बुरे। ये बात दोनों चेतन और अचेतन पदार्थों पर लागू होती है। इसलिये एक ही वस्तु पर चाहे चेतन हो या अचेतन एक बार द्वेष करना और उसी वस्तु पर उसका रूप बदल जाने पर राग करना अनुचित है। जब वस्तु एक ही केवल रूप परिवर्तन के कारण हम उससे राग या द्वेष करते हैं तो वह 'राग-द्वेष करने का कोई कारण नहीं है' यह बात अगर समझ में आ जाती है तो संसार की सब खटपट मिट जाती है और समता आ जाती है। इसी कारण से 'वीतराग' को देव माना है, जिन्होंने राग और द्वेष का अन्त कर दिया और समता प्राप्त की। वास्तव में राग तथा द्वेष मोह जन्य हैं और अपने विकास का नाश करने वाले हैं तथा भव-भ्रमण के हेतु हैं। इनका नाश कर समता प्राप्त करने से मुक्ति प्राप्त होती है।

× × × ×

इस प्रकार यह समता का अधिकार पूर्ण हुआ। ममता का त्याग, चित्त-दमन, कषाय-त्याग, शुभवृत्ति आदि सब समता प्राप्ति के साधन हैं, इनकी व्याख्या आगे होगी। ये सब समता प्राप्ति के साधन हैं और समता मोक्ष-प्राप्ति का साधन है। समता से तात्पर्य यह है कि कैसी भी अनुकूल अथवा प्रतिकूल परिस्थिति आवे मन को एक वृत्ति वाला रखना, ऐश्वर्य में फूल न जाना और विपत्ति में शोक के आधीन न हो जाना।

मन की ऐसी प्रवृत्ति को समता कहते हैं। ऐसी स्थिति प्राप्त करने पर सब कर्मों का क्षय हो जाता है और मोक्ष की प्राप्ति होती है।

यहां एक बात का विशेष ध्यान रखना उचित है कि कोई पदार्थ कैसा भी छोटा या हलका क्यों न हो, उसकी ओर से आँख बन्द नहीं करनी चाहिये। उसको पूरी तरह सोच विचार कर ही उसका मूल्य विचारना चाहिये। अगर इस मूल्य आँकने में जरा भी भूल हुई तो वह वस्तु अपने ऊपर अधिकार कर लेगी। एक अंग्रेज विद्वान् Smiles ने कहा है कि "Never give way to what is little or by that very little, however, small it may be, you will be practically governed." शुरू में छोटी सी लगने वाली

अफीम की डली की परवाह न करने से वही कालान्तर में शरीर तथा मन पर अधिकार कर लेती है और पूरी तरह दास बना लेती है। अतएव प्रत्येक वस्तु की अच्छी तरह जानकारी प्राप्त कर उस पर जय प्राप्ति करने की आदत डालनी चाहिये।

समता अर्थात् सब जीवों या वस्तुओं की तरफ राग-द्वेष रहित भाव रखना। इस तरह वर्तने से मनुष्य के हृदय में एक अद्भुत प्रकार का आनन्द आता है जिसका वर्णन करना असम्भव है। बिना समता के धार्मिक क्रिया राख पर लीपना है। जब तक भूमि साफ नहीं होती तब तक कोई सुन्दर चित्र नहीं खिंच सकता। इसलिये पहले हृदय को समता से स्वच्छ करना चाहिये अर्थात् उसे राग-द्वेष से मुक्त करना चाहिये।

समता साधना के मुख्य चार साधन हैं

१. प्रथम साधन चार भावनाएँ भाना—ये भावनाएँ मैत्री, करुणा, प्रमोद और माध्यस्थ्य भावनाएँ हैं। ये बहुत उपयोगी हैं, इनसे जीवों के परस्पर सम्बन्ध का ज्ञान होता है। जिससे हृदय आर्द्र होता है। दूसरी १२ भावनाएँ और भी हैं, जो संसारी भावनाएँ कहलाती हैं, जिनका विवेचन आगे किया जायगा।

२. दूसरा साधन इन्द्रिय-विषयों पर सम-चित रखना है। जीव अनादि काल के अभ्यास से इन्द्रियों के विषयों में फँस जाता है। वह अपने कर्तव्य को भूल जाता है। जब जीव यह विचारता है कि उसका वस्तुओं के साथ क्या सम्बन्ध है और वह इन्द्रिय के विषयों पर नियंत्रण (control) रखता है तो उसके विचार शुद्ध हो जाते हैं, विवेक उत्पन्न हो जाता है। तब समता प्राप्त होती है।

३. समता का तीसरा साधन 'वस्तु-स्वभाव को जानना'—पौद्गलिक वस्तुओं के साथ जीव का कैसा सम्बन्ध है यह जानना अत्यन्त आवश्यक है। जब तक यह ज्ञान नहीं होगा तब तक यह जीव अनेक भूलें करेगा। जो वस्तु अपनी नहीं और न अपनी हो सकती है उसको अपना मानना, उस पर प्रेम करते रहना उसको प्राप्त करने की

कोशीश करते रहना, और उसके वियोग में दुःख मानना और इसी प्रकार अपने भाई, स्त्री, पुत्र आदि में सुख दुख का अनुभव करना बड़ी भारी भूल है। परन्तु जब यह जीव जान जाता है कि ये सब वस्तुएँ पौद्‌गलिक हैं और इनसे प्राप्त सुख अल्प तथा क्षणिक है तो वह वस्तुओं के स्वभाव से परिचित हो जायगा और अपने को इनसे अलग समझ कर समता रखेगा।

४. चौथा साधन समता प्राप्ति का "स्वार्थ-प्राप्ति में लीन रहना" है। अब यह देखना है कि यह स्वार्थ क्या है। जीव का सुख चाहना ही स्वार्थ है। परन्तु वह यह नहीं जानता कि वास्तविक सुख क्या है तो वह संसार में सुख ढूँढता है। जहाँ सुख नहीं है वहाँ सुख ढूँढता है। अपने भाई बन्धु व स्नेहियों से सुख की आशा करता है। पर ये सब अस्थिर हैं, ये अपने स्वरूप को बदल लेते हैं और उसे भय अथवा दुःख से नहीं बचा सकते तब वह निराश हो जाता है। पर उसने जब यह समझ लिया कि संसार की स्थिति ही ऐसी है, यहाँ न कोई अपना है और न कोई भय से बचाने वाला है अतः जीव को चाहिए कि वस्तुओं के मोह से विरक्त हो आत्म-साधन क्यों न करें? अर्थात् जीव को आत्मसाधन में लगना चाहिये। यही वास्तविक स्वार्थ और समता-प्राप्ति का चौथा साधन है।

इन सबका सार यह है कि प्रत्येक वस्तु का निरीक्षण करना चाहिये। केवल बाह्य निरीक्षण करने से कोई लाभ नहीं। अपना सम्बन्ध वस्तु-विशेष से कितना है, कैसा है और कितनी देर तक ठहरने वाला है इत्यादि बातों पर विचार करने से विशेष अनुभव प्राप्त होता है और मन की चंचलता मिटती है। इस प्रकार समता प्राप्त हो जाती है, जो मोक्ष-प्राप्ति का प्रमुख साधन है।

★

द्वितीय अधिकार

स्त्री ममत्व मोचन

समता का रहस्य विगत अध्याय में समझा। अब उसे प्राप्त करने के क्या क्या साधन हैं इस पर विचार करते हैं। यह सर्व विदित है कि सबसे बड़ा ममता का कारण स्त्री है। इसीके पीछे संसार में सब "थारा म्हारा" का झगड़ा है। अतएव सब से अधिक दुःख का कारण स्त्री ही है। स्त्री को पुरुष के गले में बाँधी हुई घट्टी माना है।

पुरुष के गले में घट्टी

मुह्यसि प्रणयचारुगिरासु, प्रीतितः प्रणयिनीषु कृतिं स्त्वम्।
किं न वेत्सि पततां भववार्द्धौ, ता नृणां खलु शिला गलबद्धाः ॥१॥

"हे विद्वानो! स्त्री की स्नेहभरी वाणी तुमको मीठी लगती है। तुम उस पर प्रीति कर मोह के वशीभूत होते हो परन्तु क्या यह तुम नहीं जानते कि वह (स्त्री) भव-समुद्र में पड़ते प्राणियों के गले में बँधे हुए पत्थर के समान है।"

विवेचन :—अनादि काल के अभ्यास से तथा मोहराजा की आज्ञा से प्राणी बाहर के सुन्दर दिखावे से तथा मधुर भाषण से स्त्री के मोह में फँस जाता है। उसे इस बात का भान नहीं रहता कि यह स्त्री का मोह कितना अनर्थ करने वाला है। यह विचारणीय बात है। अनन्त ज्ञान वाले इस जीव को उसकी पतित अवस्था को बतलाने के वास्ते विद्वानों ने स्त्री को गले में बँधी घट्टी बताया है। पानी में डूबते हुए प्राणी को जिस प्रकार लकड़ी जैसी हल्की वस्तु तैरने के लिये जरूरी होती है। उसके बदले यदि उसके गले में भारी पत्थर बाँध दिया जावे तो वह निःसन्देह डूब जायगा। ठीक इसी प्रकार इस भव-समुद्र में डूबते हुए मनुष्य के गले में यह स्त्री भारी पत्थर के समान है। एक भव में एक बार स्मरण करने से अनन्त बार इस भव-समुद्र में भटकना पड़ता है। ऐसा ही वैराग्य शास्त्र में कहा है :—

मा जाणसि जीव तुमं पुत्तकलत्ताइँ मज्झ सुहहेऊ ।
निउणं बंधणमेयं, संसारे संसरंताणं ॥

"हे जीव ! पुत्र, स्त्री आदि को तू सुख का कारण मानता है यह ठीक नहीं, क्योंकि यह सब इस जीव को संसार-भ्रमण कराने में दृढ़ बन्धन का हेतु है। मोह का ऐसा स्वरूप समझ कर मोह को कम करना चाहिये और संसार से उदासीन होना चाहिये ॥"

नोटः—यहाँ स्त्री को संसार का कारण तथा घट्टी के समान बताया है। इसी प्रकार स्त्रियों के लिये पुरुष को भी संसार-समुद्र में डूबने का कारण समझना चाहिये। और जो जो बातें स्त्रियों के बारे में लिखी हैं वे सब बातें पुरुषों के बारे में भी समझनी चाहियें।

स्त्रियों की अरमणीयता

चर्मास्थिमज्जांत्रवसास्रमांसामेध्याद्यशुच्यस्थिरपुद्गलानाम् ।
स्त्रीदेहपिण्डाकृतिसंस्थितेषु, स्कन्धेषु किं पश्यसि रम्यमात्मन् ॥२॥

"स्त्रियों के शरीरपिंड की आकृति में स्थित चमड़ी से ढकी हुई हाड, मांस, चरबी, आतड़ियाँ, मेद, रक्त, विष्टा आदि अपवित्र अनेक अस्थिर पुद्गलों का समूह है। हे जीव ! तू इसमें क्या सुन्दरता देखता है ? ॥२॥"

अपवित्र पदार्थों की दुर्गंध—स्त्री शरीर का सम्बन्ध

विलोक्य दूरस्थममेध्यमल्पं, जुगुप्ससे मोटितनासिकस्त्वं ।
भृतेषु तनैव विमूढ ! योषावपुःषु तत्किं कुरुषेऽभिलाषम् ॥३॥

"हे मूर्ख ! दूर विद्यमान थोड़ी भी दुर्गंधित वस्तु को देख कर तू घृणा करता है और मुँह मोड़ लेता है, तब वैसी ही दुर्गंध से भरी हुई स्त्रियों के शरीर की तू क्यों अभिलाषा करता है ? ॥ १३ ॥"

स्त्री-मोह से इस भव में तथा परभव में प्राप्त दुःखों का दर्शन

अमेध्यमांसास्रवसात्मकानि, नारीशरीराणि निषेवमाणाः ।
इहाप्यपत्यद्रविणादिचिन्तातापान् परत्रेऽप्यति दुर्गतीश्च ॥४॥

"विष्टा, मांस, रुधिर और चर्वी से भरा हुआ यह (अपना) अथवा स्त्रियों का शरीर सेवन करने वाले प्राणी ! इस भव में पुत्र और पैसे इत्यादि की चिन्ता के ताप से तू दुःख पाता है और परभव में भी तेरी दुर्गति होती है ॥४॥"

विवेचन :—ऊपर बताया है कि अपना शरीर अपवित्र पदार्थों से भरा होने के कारण अपवित्र है। इसलिये सेवन योग्य नहीं, तब भी कामान्ध पुरुष इसका सेवन करते हैं। इसलिये उनको इस भव में अनेक दुःख सहने पड़ते हैं। पुत्र हो तो उसके लालन पालन की चिन्ता, अपना, अपनी स्त्री व पुत्र के पेट पालने का दुःख, कपड़ा, गहने तथा अपनी इज्जत बनाये रखने की चिन्ता हरदम सताती रहती है। पुत्र के वास्ते धन इकट्ठा करने की चिन्ता बनी रहती है जो कभी भी पूरी नहीं होती। इस प्रकार अनेक प्रकार की चिन्ताएँ जन्म भर बनी रहती हैं। इतना होने पर भी यदि पुत्र कपूत निकल जाय तो सारा जन्म नष्ट हो जाता है। इस सम्बन्ध में कपिल केवली का दृष्टान्त मनन करने योग्य है। कपिल एक दरिद्र ब्राह्मण था। उसके पास अपनी स्त्री के प्रसूति-कर्म के लिये एक पैसा भी नहीं था। उस समय वहां के राजा का यह नियम था कि जो कोई भी ब्राह्मण प्रातः सब से पहले आकर उसको आशीर्वाद देता उसको वह दो मासे सोना देता था। अतएव कपिल दो मासा सोना प्राप्त करने के लिए प्रातः जल्दी उठ कर राजमहल की तरफ चला। रात्रि अधिक रहने के कारण जब वह बाजार में निकला तो राजकर्मचारियों ने उसे चोर समझ कर पकड़ लिया और प्रातः उसे राजा के सन्मुख उपस्थित किया। राजा ने उससे पूछा कि तू इतनी रात शेष रहते क्यों आया, सच सच बता। इस पर उसने सारी घटना सच सच कह दी और कहा कि दो मासा सोना प्राप्ति के लिये आया हूँ। राजा को उसकी बात पर विश्वास हो गया और कहा कि मांग "जो कुछ तू मांगेगा वही दूँगा"। यह सुन कर उसने सोचा कि राजा स्वयं मुझे मुंह मांगने को कहता है तो मैं कम क्यों मांगूं। यह सोच उसने विचार किया कि दो मासे सोने से क्या होगा, अतएव एक तोला ही मांगूं। इतने में फिर विचार आया कि एक तोले सोने से उसकी दरिद्रता दूर नहीं हो सकती, अतएव कम से कम एक गांव मांगूं। फिर सोचा कि एक गांव से क्या होता है। पैसा मांगने का मौका

बार बार नहीं आता, इसलिये आधा राज माँगूं। फिर खयाल आया जब माँगना ही है तो सारा राज्य ही क्यों न माँगलूं। इस प्रकार विचार करते-करते उसने सोचा कि दो मासा सोना प्राप्त करने का लोभ अब इतना बढ़ गया कि राज्य माँगने पर भी लोभ शान्त नहीं होता तो इस लोभ का अन्त कहाँ? इसकी तो तृप्ति कभी होती ही नहीं। और इस लोभ का कारण क्या है, तो ज्ञात हुआ कि इस सब लोभ की जड़ तो एकमात्र स्त्री ही है। इतना सोचते ही उसे ज्ञान हो गया। वह तत्काल लोच कर साधु बन गया और कठिन दीक्षा पालते हुए अन्त में केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष प्राप्त किया। इस दृष्टान्त से साफ समझ में आ गया होगा कि इस संसार-भ्रमण की जड़ स्त्री ही है। उसे त्यागे बिना सच्चा सुख अर्थात् मोक्ष नहीं मिलता। इसीलिये स्त्री को गले में बँधी घट्टी की उपमा दी है। इसी से मनुष्य के दोनों लोक नष्ट हो जाते हैं। अतएव इससे बचो।

स्त्री शरीर में क्या है यह विचारना जरूरी है।

अंगेषु येषु परिमुह्यसि कामिनीनां,

चेतः प्रसीद विश च क्षणमन्तरेषाम्।

सम्यक् समीक्ष्य विरमाशुचिपिण्डकेभ्य-

स्तेभ्यश्च शुच्यशुचिवस्तुविचारमिच्छन् ॥५॥

"हे चित्त! तू स्त्री के शरीर पर मोह करता है, पर जरा सोच कि इसके जिन अंगों पर तुझे मोह है उनमें प्रवेश कर पवित्रता और अपवित्रता का विचार कर और देख तो तुझे ज्ञान हो जायगा कि स्त्री अशुचि की खान है॥ ५॥"

विवेचनः—स्त्री के शरीर पर अति मुग्ध होने से रावण का नाश हुआ। स्त्री की अपवित्रता का विचार कर भगवान् नेमिनाथ ने संसार छोड़ा। इसी प्रकार अनेक महात्माओं ने संसार का मोह छोड़ा। यही स्त्री-मोह संसार में सब जीवों को रुलाता है और चैन नहीं लेने देता। यह सब मोहक कर्म की लीला है।

दिया जाय अर्थात् हाड, माँस, मज्जा आदि को बाहर डाल दिया जावे तो वह सियार व गिद्धों ही के काम आवेगी। मनुष्य तो वहाँ खड़ा भी नहीं रह सकता। फिर ऐसी अशुद्ध वस्तु से मोह क्यों करना? इन दोषों के सिवाय अन्य भी महान् दोष हैं, जैसे चपलता, माया, असत्यता, लोभ, अपवित्रता, निर्दयता। जिनको इस भवसमुद्र से बचना है वे इनसे बचें। शास्त्र कहता है कि जो स्त्री सम्बन्ध करता है वह इतने पाप बाँधता है कि यदि उनका वर्णन किया जाय तो कंपकपी आती है और नरक का द्वार खुल जाता है।

ललना ममत्व मोचन द्वार का उपसंहार और स्त्री की हीनता

निर्भूमि विषकंदली गतदरी व्याघ्री निराहो महा—
व्याधि मृत्युरकारणश्च ललनाऽनभ्रा च वज्राशनिः।
बंधुस्नेहविघातसाहसमृषावादादिसंतापभूः;
प्रत्यक्षापि च राक्षसीति बिरुदैः ख्याताऽऽगमे त्यज्यताम् ॥८॥

"आगम शास्त्र में स्त्री के अनेक उपनाम बताए गए हैं। वह बिना भूमि के उत्पन्न विष बेलड़ी है, बिना गुफा के रहने वाली शेरनी है, बिना नाम की मोटी व्याधि है, बिना कारण की मृत्यु नाशकराने है, बिना मेघों की बिजली है, सगे सम्बन्धियों तथा भाइयों से स्नेह वाली है, साहस, झूठ आदि दुःखों की जड़ है, यह प्रत्यक्ष राक्षसी है। अतः इसका त्याग कल्याणकारी है।"

× × × ×

विद्वान् ग्रन्थकार ने स्त्री-ममत्व पर इतना जोर इसलिये दिया है कि स्त्री ही संसार रूप है। वह ममता में फँसाने वाली है। वह सब भवभ्रमण का कारण है। सब मोहों से अधिक स्त्री का मोह होता है। मोह ही भवभ्रमण का मुख्य कारण है। मोह ही सब कर्मों का राजा कहलाता है। यहां जिस प्रकार स्त्री को बन्धन रूप बताया है उसी प्रकार स्त्रियों के लिये पुरुष भी बन्धन रूप है और भवभ्रमण का कारण है। बल्कि पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में मन पर अंकुश रखने की अधिक क्षमता होती है। उनमें आत्म-नियंत्रण, संयम, त्याग, सेवा इत्यादि उच्च गु

अधिक होते हैं। विषय-तृप्ति केवल मनमाना आनन्द ही है। यह सब समझते हुए भी मनुष्य मनोविकार के आधीन होकर विषय-वासना में लीन हो जाता है। यदि मनुष्य मनोविकार से विषय सेवन करे तो उसे स्व-स्त्री तक ही मर्यादित रखना चाहिये। पर-स्त्री का तो कभी स्वप्न में भी ध्यान नहीं करना चाहिये। पर-स्त्री का ध्यान करते समय उसे सोचना चाहिये कि यदि ऐसा ही बर्ताव कोई दूसरा मनुष्य उसकी स्त्री के साथ करे तो उसे कितना बुरा लगेगा। अतएव इस बात को ध्यान में रख कर पर-स्त्री का स्वप्न में भी कभी ध्यान नहीं करना चाहिये।

नोट:—इस अधिकार में स्त्री जाति के लिये तिरस्कार पूर्ण शब्दों का प्रयोग किया गया है इसका कारण विचारणीय है।

भारतीय नारियाँ पुरुषों की अपेक्षा सदा अधिक संयम, त्याग, सेवा तथा समर्पण भाव रखती हैं। वे अपने चरित्र रक्षण के लिये अपने प्राणों तक का बलिदान दे देना अपना आदर्श समझती आई हैं। वे सेवा और त्याग की मूर्ति हैं। जैन शास्त्रों में जैसे सोलह सतियों के नाम पूज्य दृष्टि से लिये जाते हैं वैसे पुरुषों के नाम नहीं लिये जाते हैं। स्त्रियाँ एकपति व्रत पालन करती हैं। इसके विपरीत पुरुषों के लिये अनेक विवाह भी गौरव की बात समझी जाती रही है। स्त्री-पुरुषों में जो अनैतिक व्यवहार होते हैं उनमें प्रायः पुरुष ही अग्रसर होते हैं। ऐसी दशा में स्त्रियों के लिये तिरस्कार पूर्वक भाषा का प्रयोग अनुचित है। कम से कम श्वे० जैनियों की दृष्टि में तो दीक्षा, भगवान् की पूजा, तथा मोक्ष प्राप्ति में स्त्रियों और पुरुषों के समान अधिकार माने जाते हैं। एक तीर्थंकर मल्लीनाथ स्त्री थीं। तीर्थंकरों के पिता तो मोक्ष जायँ या न भी जायँ किन्तु उनकी माताओं का मोक्ष में गमन अवश्य होता है, ऐसी मान्यता है।

धारा के प्रभाव से नहीं बच सके। यहां तक कि दिगम्बर जैन समाज तो भगवान् की पूजा में स्त्रियों का अधिकार ही नहीं बताता उनका मोक्ष में भी अधिकार नहीं है ऐसा मानता है।

यह सम्भव है कि नीच चरित्र वाली वेश्याओं से सतर्क रहने के लिये ऐसी भाषा का प्रयोग किया हो। लेकिन ऐसी अल्प संख्यक वेश्याओं से बचने के कारण पूरी नारी समाज को कलंकित करना उचित नहीं। ऐसी भाषा का उपयोग आज के जमाने में अति विचारणीय है। ऐसी भाषा से नारी समाज में आत्म-हीनता के भाव उत्पन्न होते हैं और पुरुषों के प्रति विरोध भाव पैदा होकर समाज का वातावरण बिगड़ता है। यह असमान अधिकार की भावना पैदा कर समाज को पतन की ओर ढकेलने का कारण बन जाती है।

आज तो परिवारों में उच्च भाव और जागृति पैदा करने में साधुओं अपेक्षा साध्वियाँ अधिक सफल हो सकती हैं।

तृतिया अधिकार

अपत्यममत्व मोचन

पुत्र पुत्री बन्धन है।

मा भूरपत्यान्यवलोकमानो, मुदाकुलो मोहनृपारिणा यत्।
चिक्षिप्सया नारकचारकेऽसि, दृढं निबद्धो निगडैरमीभिः ॥१॥

"तू पुत्र पुत्री को देख कर हर्ष से पागल मत हो, क्योंकि इस मोह राजा ने, जो तेरा शत्रु है, तुझे नरक रूपी जेलखाने में डालने के लिये लोहे की बेड़ी रूपी (पुत्र - पुत्री) से तुझे दृढ़तापूर्वक बांधा है ॥१॥"

विवरण:—मनुष्य पुत्र के स्नेह में बालक के साथ बालक बन जाता है यह सब मोह राजा की करामात है। मोह राजा ने पुत्र पुत्री रूप रस्सी से मनुष्य को खूब कस के बांधा है। ये रस्सियां इतनी मजबूत हैं कि लोहे की साँकल तोड़ना आसान है पर इन रस्सियों को छोड़ना बड़ा कठिन है। आर्द्रकुमार को पुनः दीक्षा लेने की इच्छा होने पर भी पुत्र-स्नेह रूप काचा सूत के १२ आँटे को वह तोड़ नहीं सका और १२ वर्ष तक गृहस्थाश्रम में रहना पड़ा। मनुष्य के चित्त में वैराग्य भाव बड़े पुण्य के प्रभाव से उत्पन्न होता है। पर यह स्त्री तथा पुत्र का मोह दृढ़ बन्धन के रूप में सामने आ जाता है, यह सर्व विदित है। ऐसे अवसर पर पुत्रधर्म या पतिधर्म का ध्यान न करके आत्म-धर्म का ध्यान करना चाहिये।

अथवा ज्यादा उम्र तक जीवित रहते हुए अनेक प्रकार की पीड़ा-कर आत्मसमाधि का नाश करते हैं ॥२॥"

विवेचन :—पुत्र अनेक उपाधियों का कारण है और माता पिता के लिए शल्यरूप है। यदि कम उम्र में मर जावे तो माता पिता शोक करते हैं और यदि पीछे विधवा छोड़ जावे तो दुःख का अन्त नहीं। यदि बचपन से वह दीर्घजीवी बनता है तो उसको पढ़ाने लिखाने, लग्न आदि कार्यों में पिता को अनेक चिन्ताएँ करनी पड़ती हैं। यदि दुर्दैव वश वह पुत्र पिता का आज्ञाकारी न हो पाया तो पिता के चित्त को शान्ति नहीं मिलती। इस प्रकार से पुत्र-पुत्री की चिन्ता पिता के मन की समाधि का नाश करती है। पुत्री की चिन्ता तो पुत्र की चिन्ता से भी अधिक होती है। उसको पढ़ाने की, अच्छा वर ढूँढने की तथा आगे उसके पुत्र पुत्री हो तब तक ध्यान रखना पड़ता है। यदि पाप के उदय से वह विधवा हो जावे तो फिर दुःख का पार नहीं और जीते जी मरने के समान हो जाता है।

आक्षेप द्वारा पुत्र-ममत्व त्यागने का उपदेश

कुक्षौ युवत्याः कृमयो विचित्रा, अप्यस्रशुक्रप्रभवा भवन्ति ।
न तेषु तस्या न हि तत्पतेश्च, रागस्ततोऽयं किमपत्यकेषु ॥३॥

"पुरुष के वीर्य और स्त्री के रक्त के संयोग से स्त्री-योनि में विचित्र प्रकार के कीड़ों की उत्पत्ति होती है। पति को इन कीड़ों से प्रेम नहीं होता तो पुत्र दर्शन के उपरान्त उस पर प्रीति क्यों होती है यह एक प्रश्न है ? ॥३॥"

अपत्य पर स्नेहबद्ध नहीं होना इसके तीन कारण

त्राणाशक्तेरापदि सम्बन्धानन्त्यतो मिथोऽङ्गवताम्
सन्देहाच्चोपकृतेर्मापत्येषु स्निहो जीव ॥४॥

"आपत्ति-काल में पालन करने की शक्ति न होने से, प्राणियों का पारस्परिक सम्बन्ध अनेक भवों में अनेक प्रकार का होने

से और किये हुए उपकार का बदला वापिस मिलने में सन्देह होने के कारण तू पुत्र पुत्रियों पर स्नेह मत कर ॥४॥

विवेचन :—सन्तान में आसक्ति न हो इसके तीन कारण दिखाई देते हैं। (१) पिता को दुःख से बचाने में अशक्ति अर्थात् कर्म जनित पापोदय से वह पिता का दुःख दूर नहीं कर सकता। (२) प्राणी के अनन्त भवों में अनेक प्रकार के सम्बन्धः—कभी वह पुत्र रूप में हुआ है तो वही जीव दूसरे भव में माता रूप भी हो सकता है और वही पति स्वरूप भी हो सकता है यह अनुचित प्रतीत होता है। इसका विचार समता अधिकार में हो चुका है। (३) पुत्र-पुत्री के लिए जो उपकार किया जाता है उसका प्रत्युपकार प्राप्त करने में सन्देह अर्थात् कोई पुत्र पिता के पहले ही संसार से कूच कर जाता है अथवा कपूत निकलजाता है। ये दोनों प्रकार के पुत्र दुःखदायी होते हैं।

× × × ×

इस प्रकार तीसरा अपत्यममतामोचन द्वार समाप्त हुआ। पुत्र पुत्री की प्राप्ति पर न अति हर्ष मानना उचित है और न मरने पर शोक करना। क्योंकि इस प्रकार का पुत्र-पुत्री में स्नेह संसार को बढ़ाता है। यदि मनुष्य पुत्र-पुत्री प्राप्त कर लेवे तो उन्हें छोड़ना उचित नहीं। यदि अभाग्यवश वह निःसन्तान है तो संतोष रखना चाहिये। उसे यह समझना चाहिये कि मुझे संसार के जंजाल से मुक्ति मिली, यह मेरा सौभाग्य है। परन्तु इस संसार में लोग पुत्र की प्राप्ति के लिये अनेक अव्यावहारिक तथा धर्म-विरुद्ध आचरण करते पाए जाते हैं। माता पिता समझते हैं कि पुत्र उनको मोक्ष में पहुँचा देगा उनका यह विचार उचित नहीं है।

चतुर्थ अधिकार

धनममत्व - मोचन

मनुष्य को भवसागर में फँसाने वाली इस संसार में कामिनी और कांचन ये दो वस्तुएँ विशेष हैं। कामिनी के विषय में हमने पहले विचार कर लिया, अब कांचन के विषय में विचार करते हैं। कामिनी मनुष्य को मोहजाल में फँसाने वाली है तो कांचन उसे लोभ के वशीभूत कर देता है। ये दोनों ही सांसारिकता बढ़ाने वाले हैं।

पैसा पाप की जड़ है।

याः सुखोपकृतिकृत्त्वधिया त्वं, मेलयन्नसि रमा ममताभाक्।
पाप्मनोऽधिकरणत्वत एता, हेतवो ददति संसृतिपातम् ॥१॥

"अपने सुख और उपकार करने की बुद्धि के लालच से तू धन इकट्ठा करता है। वह भी आवश्यकता से अधिक होने से पाप का हेतुभूत और संसार भ्रमण का कारण हो जाता है ॥१॥"

विवेचन :—धन इकट्ठा करते समय मनुष्य प्रायः अपनी तथा अपने परिवार और मित्रादि के हितार्थ उपकार करने की इच्छा रखता है परन्तु इस हेतु से प्राप्त की हुई लक्ष्मी भी कर्मादान आदि अनेक पापों से भरपूर होती है। ऐसे पाप से कमाया हुआ धन संसार-वृद्धि का हेतु ही होता है। वह मनुष्य अनन्त काल तक उन्नति पद पर नहीं पहुँच सकता। 'ममनसेठ' ने बड़ी कठिनाई से धन एकत्रित किया पर रोटी भी कभी भर पेट सुख से नहीं खाई। वह मरने के उपरान्त नरक में गया। इसी प्रकार हम देखते हैं कि लोग पैसे के लिए न करने योग्य भी पाप करते हैं और खूब धन एकत्रित होने पर भी तृप्त नहीं होते। वे 'हाय पैसा हाय पैसा' करते २ यहीं सब धन छोड़ चले जाते हैं। आज कल जितने इस विश्व में युद्ध होते हैं वे सब व्यापार तथा धनोपार्जन के

लिये ही होते हैं और संसार में अशान्ति फैलाते हैं। इसलिये भगवान् महावीर का उपदेश है कि पैसे का लोभ नहीं करना चाहिये। पैसा नरक वाले व्यक्ति के पास अधिक होता है।

मनुष्य धन धन के लिये कमाता है न कि अपने सुख अथवा परोपकार के लिये। लेकिन वह धन न उसके काम आता है न शुभ काम में लगता है। वह तो कमाने में इतना मस्त हो जाता है कि उसे उचित-अनुचित और कर्तव्य-अकर्तव्य कुछ नहीं सूझता। वह जीवन के अन्त में सब यहीं छोड़ चला जाता है। इसके अतिरिक्त संसार-भ्रमण जो बढ़ जाता है वह नफा समझना चाहिये।

में जन्म लेकर दोनों भवों में दुःख पाता है। बड़े बड़े राजा महाराजा हुए पर धन उनको भी मृत्यु से नहीं बचा सका; सब सब दोषों का मूल यह धन किस काम का? इस पर मोह करना कष्टदायक है ॥४८॥

धन से सुख कम दुःख अधिक

ममत्वमात्रेण मनः प्रसादसुखं धनैरल्पकमल्पकालम् ।
आरम्भपापैः सुचिरं तु दुःखं, स्याद्दुर्गतौ दारुणमित्यवेहि ॥३॥

"यह पैसा मेरा है, इस विचार से मन प्रसन्न होता है और थोड़े समय के लिये सुख होता है। पर आरम्भ के पापों से जीव दुर्गति में लम्बे समय तक भयंकर दुःख पाता है, ऐसा तुम जानो ॥ ३ ॥"

विशेषार्थः—यह घर मेरा है, ये आभूषण मेरे हैं, मैंने व्यापार में इतना कमाया, इस प्रकार के विचार से मन प्रसन्न होता है। पर यह सुख काल्पनिक है, वास्तविक नहीं। मन की शान्ति में जो सुख है उसके सामने यह सुख कुछ भी नहीं है। यदि मनुष्य की आयु १०० वर्ष की मान लें तो इस धनोपार्जन में जो आरम्भ करना पड़ता है उसके फलस्वरूप असंख्य वर्षों तक नारकी तथा नीगोद में दुःख भोगना पड़ता है। उसके मुकाबले में १०० वर्ष किस गिनती में हैं? वास्तव में जैसे कि धर्मदास गणि ने कहा है कि जिस सुख के अन्त में दुःख हो वह सुख नहीं। जैसे यदि कोई ५० वर्ष तक बहुत सुख भोगे और फिर बाकी १० वर्षों में उसे पूर्ण कष्ट होवे तो जो ५० वर्ष सुख भोगा वह किस गिनती में? इसलिये हे भाई! इस दुनिया में यदि सच्चा सुख है तो संतोष में ही है। जो परिस्थिति चलती है उसी में सुख मानना मन को आनन्द में रखना है। बाकी सुख तो रावण और धवल सेठ आदि के पास अनन्त धन होने पर भी नहीं था। ॥४९॥

क्या धर्म के लिए धन इकट्ठा करना उचित है?

द्रव्यस्तवात्मा धनसाधनो न, धर्मोऽपि सारम्भतयातिशुद्धः ।
निःसंगतात्मा त्वतिशुद्धियोगान्मुक्तिश्रियं यच्छति तद्भवेऽपि ॥४॥

"पवित्र साधन से अर्जित धन 'द्रव्यस्तवन' रूप धर्म को पैदा करता है लेकिन वह भी आरम्भ युक्त होने से अति शुद्ध नहीं। अति शुद्ध धर्म तो निःसंगता ही है। उसी से उसी भव में मोक्ष मिल सकता है ॥ ४ ॥

विवेचन—विविध प्रकार की पूजा, बिंब प्रतिष्ठा, स्वामिवात्सल्य, उपाश्रय आदि बनवाने को 'द्रव्यस्तव' कहते हैं। उपार्जित द्रव्य को धर्म कार्यों में व्यय करना शुभ कर्म कहा जाता है। इसको महान् पुण्योपार्जन भी कहते हैं। पर ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार के धर्म में भी 'आरम्भ' होता है। क्योंकि षट्काय के जीवों का मर्दन होता है। इससे यह धर्म भी अति शुद्ध नहीं। पर इसका यह भी अर्थ नहीं कि धर्म है ही नहीं। धन से धर्म का संग्रह तो होता है, पर धर्म के निमित्त धन इकट्ठा करने की इच्छा करना ठीक नहीं। हरिभद्रसूरि महाराज ने कहा है—

धर्मार्थं यस्य वित्तेहा तस्यानीहा गरीयसी।

प्राप्त धन का कहाँ व्यय करना

क्षेत्रवास्तुधनधान्यगवाश्वैर्मेलितैः सनिधिभिस्तनुभाजाम् ।
क्लेशपापनरकाभ्यधिकः स्यात्को गुणो न यदि धर्मनियोगः ॥५॥

"प्राप्त होने वाले क्षेत्र, वस्तु, धन, धान्य, गाय, घोड़ा और भंडार का उपयोग यदि धर्म निमित्त न होवे तो इससे दुःख, पाप और नरक के सिवाय और क्या प्राप्त हो सकता है ॥५॥"

भावार्थ :—धन पुण्यवान् जीव को ही प्राप्त होता है। वह उसे बढ़ाने और रक्षण करने में श्रम करता है और अनेक प्रकार के कर्म बन्धन (आश्रव) करता है। द्रव्य के वास्ते कुटुम्बीजनों से झगड़ा करता है और दुर्ध्यान करता है, इससे दुर्गति होती है, तो ऐसे धन से क्या लाभ ? यदि इसी धन को गरीब भाइयों के हित में याने स्कूल, पाठशाला, औषधालय आदि परोपकार के कार्यों में लगाया जावे तो द्रव्य का सदुपयोग होता है और इहलोक में यश तथा परलोक में सद्गति प्राप्त होती है।

सार यह है कि आवश्यकता से अधिक धन की इच्छा नहीं रखनी चाहिये और न धन के पीछे पागल होना चाहिये। नीति, अनीति और उचित, अनुचित का विचार छोड़ देना चाहिये, सत्पुरुषार्थ से जो धन प्राप्त हो उसी में सन्तुष्ट रहना चाहिये और प्राप्त धन का सदुपयोग करना चाहिये।

धन से अनेक प्रकार की हानियाँ होती हैं इसीलिये उसे
छोड़ देना चाहिये

आरम्भैर्भरितो निमज्जति यतः प्राणी भवाम्भोनिधा—
वीहन्ते कुनृपादयश्च पुरुषा येन च्छलाद्बाधितुम् ।
चिन्ताव्याकुलताकृतेश्च हरते यो धर्मकर्मस्मृतिं,
विज्ञा ! भूरिपरिग्रहं त्यजत तं भोग्यं परैः प्रायशः ॥६॥

"जिस धन के लिये आरम्भ के पाप से भारी हुआ प्राणी संसार में डूबता है; जिस धन को छीनने के लिए राजा या राजपुरुष

सातों क्षेत्रों में धन लगाने का उपदेश

क्षेत्रेषु नो वपसि यत्सदपि स्वमेत—
यातासि तत्परभवे किमिदं गृहीत्वा ।
तस्यार्जनादिजनिताघचयार्जितात्ते,
भावी कथं नरकदुःखभराच्च मोक्षः ॥७॥

"तेरे पास धन है तो भी तू उसे सातों क्षेत्रों में क्यों नहीं लगाता ? क्या तू धन को परभव में अपने साथ ले जायगा ? थोड़ा विचार तो कर कि जो पैसा इकट्ठा करने में पाप प्राप्त हुआ है उसके कारण नरक के दुःखों से तेरा छुटकारा कैसे होगा ? ॥७॥"

विवेचन:—तुम्हारे पास जो धन है वह परभव में साथ जाने वाला नहीं। उसे पैदा करने, रक्षा करने और व्यय करने में बहुत दुःख उठाने पड़ते हैं और परभव में हीन गति प्राप्त होती है। तब प्रश्न उठता है कि ऐसे धन का क्या करना ? प्राप्त धन का सदुपयोग सात क्षेत्रों में व्यय करना कहाता है। वे सात क्षेत्र हैं—जिनबिम्ब-स्थापना करना, जिनदेरासर बनवाना, जीर्णोद्धार करवाना, पुस्तकें लिखवाना-छपवाना तथा प्रचार करना और प्राचीन ग्रंथों का रक्षण करना, पढ़ाई का विस्तार आदि। अपने सधर्मी भाइयों की दशा सुधारने, गरीब अनाथ, साधु साध्वी की सेवा करने, शासन की शोभा बढ़ाने तथा इसी प्रकार के शुभ कामों में इसे लगाना चाहिये। विशेष कर जिस काम की अनिवार्य आवश्यकता है वहीं लगाना चाहिये। ऐसे शुद्ध कार्य करने से सांसारिक दुःख से जल्दी छुटकारा मिलता है। नये देरासर की अपेक्षा पुराने देरासर के जीर्णोद्धार में धन का उपयोग करने से दश गुना अधिक लाभ होता है और इससे भी अधिक लाभ [पुण्य] जग कल्याणकारी जैन धर्म का असली रूप जनता के सामने रखने तथा भगवान् के आदर्शों को समझाने और इनके प्रति पूज्य भाव रखने वालों की संख्या बढ़ाने में होता है।

× × × ×

धन संसारी जीवों को बहुत मुग्ध बनाता है। वे धन के दास बन हैं। मनुष्य को धन का दास न बन कर उसका स्वामी बनना

चाहिये। जिस तरह नौकर से काम लेते हैं उसी प्रकार धन से भी काम लेना चाहिये। लोकोपकार, स्वधर्मी-उपकार आदि सातों क्षेत्रों में इसे लगाना चाहिये। धन कमाने के पीछे पागल नहीं होना चाहिये। जो धन प्राप्त हो उसमें संतोप करना चाहिये और जीवन का ऐसा निर्वाह करना चाहिये जिसका दूसरे लोग अनुकरण करें। इसका तात्पर्य यह नहीं कि भाग्य के भरोसे हाथ पर हाथ धर कर बैठे रहें और अपनी स्थिति सुधारने का प्रयत्न ही नहीं करें। अपनी स्थिति को सुधारने की महत्वाकांक्षा रखनी चाहिये और पुरुषार्थ करते रहना चाहिये। परन्तु धन प्राप्त करने का दुर्ध्यान नहीं करना चाहिये। जो कुछ मिल जावे उसमें प्रसन्नता-संतोप रखना चाहिये। एक अंग्रेज लेखक ने सत्य कहा है :—"you many aspire but don't be dissatisfied with your present lot" इसलिये धन कमाना चाहिये। जो धन प्राप्त हो उसमें संतोप रखना और लोक-सेवा, धर्म-सेवा तथा अपने जरूरतमन्द भाइयों की सेवा में लगाना चाहिये। यही धन का सदुपयोग है।

पंचम अधिकार

देह ममत्व मोचन

शरीर का पाप से पोषण नहीं करना

पुष्णासि यं देहमघान्यचिन्तयंस्तवोपकारं कमयं विधास्यति ॥
कर्माणि कुर्वन्निति चिन्तयायतिं, जगत्ययं वञ्चयते हि धूर्तराट् ॥१॥

"पाप का विचार किये बिना तुम शरीर का पोषण करते हो। थोड़ा सोचो कि शरीर तुम्हारा क्या उपकार करेगा? इस शरीर के पोषण के लिये हिंसा करते समय भविष्य में आने वाले काल का विचार करो। यह शरीर रूपी धूर्त संसार में प्राणियों को ठगता फिरता है ॥१॥"

भावार्थ :—मनुष्य शरीर के पोषण करने के लिये अभक्ष्य भोजन करते हैं, उसके लिये पैसा पैदा करते हैं। पैसा पैदा करने में अनेक प्रकार की हिंसा तथा असत्य आदि का सहारा लेते हैं। पर समय आने पर यह शरीर नष्ट हो जाता है। तब ऐसे पोषण से क्या लाभ? और इसे विविध प्रकार के अभक्ष्य खिला कर पोषण करने से दूसरे भव में हीन गति मिलती है। इसलिये हरेक मनुष्य को इन सब बातों पर पहले से कुछ गंभीर विचार कर शरीर की ममता नहीं रखनी चाहिये और शरीर का इतना ही पोषण करना चाहिये कि शरीर स्वस्थ रहे और धर्म कार्य तथा गृहस्थ जीवन की जिम्मेदारियों का पालन करने के उपयोग में आ सके। उस पर अंध मोह नहीं करना चाहिये। मोह करने से संसार में दुःख भोगना पड़ता है और अनेक योनियों में भटकना पड़ता है। इस विषय में पुराण में एक सुन्दर कथा आती है कि त्रिशंकु नाम का एक राजा था। उसे शरीर से बहुत मोह था। वह सशरीर स्वर्ग में जाने की इच्छा करता था। अतएव उसने अपने गुरु वशिष्ठ से उसे सशरीर स्वर्ग में भेजने

की प्रार्थना की किन्तु उसने हंसी में उड़ा दी। फिर उसने अपने पुत्रों से कहा तो उन्होंने भी हँसी में उड़ा दिया। तब राजा ने विश्वामित्र से प्रार्थना की कि वह उसे सशरीर देवलोक में पहुँचा दे। विश्वामित्र राजा के उपकार से दबे हुये थे। इसलिये उसने सशरीर स्वर्ग में भेजने को स्वीकार कर लिया। विश्वामित्रजी ने यज्ञ किया और त्रिशंकु को तप के बल से स्वर्ग की ओर भेजा। ज्योंही वह स्वर्ग के पास पहुँचा त्योंही इन्द्र ने उसे उलटा सिर के बल पृथ्वी की ओर वापिस भेजा। इस पर विश्वामित्रजी ने जोर लगाया। ऐसी स्थिति में वह न तो स्वर्ग में जा सका और न मनुष्य लोक में आ सका और आकाश में उसी प्रकार उल्टे, सिर नीचे किये भटकते रह गया। उसे न स्वर्ग का सुख मिला न संसार का सुख, वह दोनों सुखों से वंचित हो गया। इसलिये अपने शरीर से मोह नहीं करना, केवल धर्म कार्य हो सके तथा गृहस्थ जीवन की जिम्मेवारियों का पालन करने के लिये स्वस्थ रह सके उतना ही पोषण करना चाहिये।

शरीर कारागृह में से छूटने का उपदेश

कारागृहाद्बहुविधाशुचितादिदुःखा—
न्निर्गन्तुमिच्छति जडोऽपि हि तद्विभिद्य ।
क्षिप्तस्ततोऽधिकतरे वपुषि स्वकर्म—
व्रातेन तद्दृढयितुं यतसे किमात्मन् ॥ २ ॥

"मूर्ख प्राणी भी अनेक अशुचि आदि दुःखों से भरे हुए कैद को तोड़ कर बाहर निकल जाने की इच्छा रखता है। तू अपने कर्मों के कारण उससे अधिक दुःखदायी शरीर रूपी कैद में बंद है तो भी तू इस बंदीगृह को और अधिक शक्तिशाली क्यों बनाता है? ॥ २ ॥"

भावार्थः—जिस प्रकार कैदखाने में क्षुधा, तृषा, गंदगी, कठोर श्रम आदि दुःख सहन करना पड़ते हैं उस समय उसमें बंद कैदी की इच्छा होती है कि कब मैं इस बंदीखाने से छुटूँ या इसे तोड़ कर किस तरह भागूँ। इसी प्रकार इस शरीर रूपी बंदीखाने में अनेक अशुचि पदार्थ भरे हैं उसमें से निकल भागने के बदले यह जीव उसे

सुन्दर आहार-स्वादिष्ट आहार, अभक्ष्य औषधियाँ दे देकर क्यों पोष
करता है और उसे थोड़ी भी पीड़ा होने पर घबड़ा जाता है। विचारवा
पुरुष को इस शरीर को बंदीखाना समझ कर इसका सदुपयो
करना चाहिये। और ऐसा व्यवहार करना चाहिये कि इस बंदीखा
में फिर से नहीं आना पड़े। शरीर की ममता छोड़ना कोई कठिन
काम नहीं है। जिस प्रकार बन्दर सँकड़े मुँह के घड़े में से मुट्ठी भर कर
चने नहीं निकाल सकता है और यह समझता है कि घड़े ने उसका
हाथ पकड़ लिया है परन्तु जब मदारी आकर बेंत लगाता है तो हाथ
तुरंत घड़े से बाहर निकाल लेता है। इसी प्रकार यह जीव समझता है
कि उसको शरीर ने पकड़ रखा है और छोड़ता नहीं। वास्तव में अपना
जीव ही उस (शरीर) को पकड़ बैठा है। पर जब काल आयगा
तब तो छोड़ जाना ही पड़ेगा। इसलिये उचित यह है कि पहले
से ही शरीर की ममता छोड़ देवे।

शरीर साधन से करने योग्य कार्य करना

चेद्वाञ्छसीदमवितुं परलोकदुःख—
भीत्या ततो न कुरुषे किमु पुण्यमेव।
शक्यं न रक्षितुमिदं हि च दुःखभीतिः,
पुण्यं विना क्षयमुपैति न वज्रिणोऽपि ॥३॥

"यदि तू अपने शरीर को परलोक में होने वाले दुःखों से
बचाना चाहता है तो पुण्य क्यों नहीं करता ? इस शरीर का पोषण
तो किसी भी तरह हो नहीं सकता। इन्द्र जैसे व्यक्तियों को भी
शारीरिक दुःख का भय बिना पुण्य किए नहीं मिटता ॥३॥"

भावार्थ—यदि तू शरीर की रक्षा करना चाहता है तो पुण्य कर।
इससे परभव में जो शरीर प्राप्त होगा वह इससे अच्छा होगा। इसका
कारण यह है कि इस शरीर को बचाने वाला कोई नहीं, इन्द्र भी इसे
नहीं बचा सकता। इसलिये पुण्य का अर्जन करो। पुण्य कर्म किये
बिना परलोक में होने वाले दुःख का भय नष्ट नहीं होता।

देहाश्रित से दुःख, निरालंवनपने में सुख

देहे विमुह्य कुरुषे किमघं न वेत्सि,
देहस्थ एव भजसे भवदुःखजालम् ।
लोहाश्रितो हि सहते घनघातमग्नि—
र्बाधा न तेऽस्य च नभोवदनाश्रयत्वे ॥४॥

"शरीर का मोह कर तू पाप करता है, पर तू यह नहीं जानता कि इससे तुझे भवसमुद्र में दुःख उठाना पड़ेगा। तू शरीर में है इसलिये ही दुःख पाता है। अग्नि जब तक लोहे में रहती है तब तक हथोड़ों की चोट सहती है। इसी तरह जब तक तू आकाश की तरह आश्रय रहित भाव (अर्थात् शरीर से अलग) अंगीकार नहीं करता अग्नि की तरह दुःख पावेगा ॥४॥"

भावार्थ—इस संसार में जो कुछ दुःख भोगना पड़ता है वह सब इस शरीर के कारण ही। यदि शरीर का साथ छोड़ दिया जाय तो मोक्ष प्राप्त हो जाता है जहां दुःख का काम ही नहीं। इसलिये शरीर को भक्ष्य अभक्ष्य खिला कर पुष्ट नहीं करना चाहिये। उसे इतना ही खिलाना चाहिये कि धर्म कार्य सरलता से हो जावे। यह शरीर धर्म कार्य करने में उपयोगी है यह बात भूलना नहीं चाहिये। जब तक शरीर है तब तक तो दुःख रहेगा ही। जिस प्रकार अग्नि जब तक लोहे में है घन की मार सहेगी और जब बाहर निकल जायगी तब पीड़ा मिट जायगी। इसी प्रकार अपने जीव का सम्बन्ध शरीर से है यह समझना चाहिये।

जीव और सूरि महाराज की बातचीत

दुष्टः कर्मविपाकभूपतिवशः कायाह्वयः कर्मकृत्,
बद्ध्वा कर्मगुणैर्हृषीकचषकैः पीतप्रमादासवम् ।
कृत्वो नारकचारकापदुचितं त्वां प्राप्य चाशु च्छलं,
गन्तेति स्वहिताय संयमभरं तं वाहयाल्पं ददत् ॥५॥

"शरीर नाम का नौकर कर्मविपाक नामक राजा का दुष्ट

सेवक है। वह तुझे कर्मरूपी डोरी से बांधकर इन्द्रियरूपी शराब के बर्तन से प्रमाद रूपी शराब पिलावेगा। इस प्रकार तुझे नरक के दुःखों को भुगतने योग्य बनावेगा और अन्त में कोई बहाना कर चला जायगा। इसलिये अपने हित के लिये शरीर को थोड़ा थोड़ा खिलाकर संयम भार उठाने के योग्य बना कर रख ॥५॥"

विवरण—ऊपर का श्लोक स्पष्ट हो सके इसलिए एक छोटी सी कहानी दी है। चतुर्गति नाम की एक नगरी है और कर्मविपाक नाम का राजा राज्य करता है और राजा के अनेक सेवकों में शरीर नाम का भी एक सेवक है। एक दिन राज दरबार में बैठे कर्मविपाक राजा ने सेवकों को आदेश दिया कि इस जीव को बंदीगृह में बंद कर दो जिससे वह मोक्ष नगरी में न जा सके। क्योंकि वहां अपनी सत्ता नहीं है। शरीर नौकर ने राजा से प्रार्थना की कि जीव को अधिकार में रखने के लिए डोरों की आवश्यकता होगी। इस पर कर्मविपाक राजा ने कहा कि इसकी चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं। अपने भंडार में कर्म नाम के हजारों डोरे हैं जितने चाहिए उतने ले जाओ। परंतु तू इस जीव से सचेत रहना कि कहीं वह तुझे थप्पड़ मारकर भाग न जावे। तब सेवक ने कहा "महाराज इस जीव में तो अनन्त शक्ति है, वह मुझे इससे मार सकता है, इसलिये ऐसी वस्तु दीजिये कि जिससे यह अचेत हो जाय और उसे अपनी शक्ति का ज्ञान न रहे। इस पर बहुत विचार करके राजा ने कहा-मद्य, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा ये पाँच प्रमादरूपी शराब हैं, उन्हें इन्द्रियरूपी बर्तन में रखकर उसे पिलाया कर तब वह कुछ भी न कर सकेगा।

इस प्रकार कर्मविपाक राजा की आज्ञा को सुनकर शरीर रूपी सेवक ने जीव को उपरोक्त मद पिलाकर बेहोश कर दिया। उसे कृत्याकृत्य का ध्यान नहीं रहा। जब सेवक को निश्चय हो गया कि यह जीव मोक्ष न जाकर नरक में जायगा तो अपने कार्य में सफल समझ कर जीव को छोड़ जाने का विचार किया। इतने में गुरुमहान् (मुनि सुन्दर) मिल गये। उनको जीव की दशा देखकर दया आयी। उन्होंने उसे कैद खाने का स्वरूप समझाया और कहा—"हे भाई! इस बंदीखाने से तू भी निकल जा। यह शरीर लोभी है इसे थोड़ी थोड़ी रिश्वत देकर

मोक्ष का साधन उसीके द्वारा तैयार कर तथा इन पाँच इन्द्रियों को संयम में रख और पाँच प्रमाद रूप दारू को कभी छू भी मत"। गुरु महाराज के उपदेश से यह जीव विचार करता है और उपदेश के अनुसार चलने की कोशीश करता है पर चलता नहीं। वास्तव में इस जीव को वस्तुस्वरूप का बिलकुल ध्यान नहीं, वह प्रमाद रूपी मद में मस्त रहता है और अकार्य करता है, अनाचरण करता है और दुःखी होता है, उसे किसी बात का ज्ञान नहीं। वह यह नहीं जानता कि इस संसार में मद तो क्या है और पिलाने वाला कौन है। यदि वह यह बात समझ जाय तो वह अपने शरीर को आवश्यकता के अनुसार पोषण करता हुआ संयम पालनरूप काम निकला कर मोक्ष चला जाय—

शरीर को अशुचिता तथा अपना हितसाधन

यतः शुचीन्यप्यशुचीभवन्ति,
कृम्याकुलात्काकशुनादिभक्ष्यात् ।
द्रागभाविनो भस्मतया ततोऽगा-
न्मांसादिपिण्डात् स्वहितं गृहाण ॥ ६ ॥

"जिस शरीर के सम्बन्ध से पवित्र वस्तु भी अपवित्र हो जाती है, जो कृमियों (कीड़ों) से भरा है जो कौवे और कुत्तों के भक्षण योग्य है, जिसकी थोड़े ही दिनों में राख होने वाली है और जो केवल माँस का पिण्ड मात्र है, ऐसे शरीर से तू अपने हित की साधना कर ॥ ६ ॥"

विवेचनः—अति सुन्दर तथा स्वच्छ वस्तुएँ भी शरीर के सम्पर्क में आकर अशुद्ध हो जाती हैं। अपना शरीर भी हाड़ मांस आदि अपवित्र वस्तु का बना है और ऊपर से चमड़ी से ढका होने से सुन्दर लगता है। यह हाड़ मांस भी किसी काम का नहीं। जानवर का हाड़ मांस, चमड़ी इत्यादि तो काम आ जाते हैं पर मनुष्य का हाड़ मांस चमड़ी तो किसी भी काम में नहीं आते उसे जलाना ही पड़ता है। ऐसे निकम्मे शरीर से, जो किसी के भी काम का नहीं, मोक्ष करने

से क्या लाभ ? इसलिये इस शरीर में जब तक यह जीव है तब तक थोड़ा २ खिला कर अपने स्वार्थ की साधना करनी चाहिये। यही शरीर का सदुपयोग है।

शरीर भाड़े का घर है उसका उपयोग करो

परोपकारोऽस्ति तपो जपो वा, विनश्वराद्यस्य फलं न देहात्।
सभाटकादल्पदिनाप्तगेहमृत्पिण्डमूढः फलमश्नुते किम् ॥ ७ ॥

"जो प्राणी इस नाशवान शरीर से परोपकार, तप, जप आदि लाभ नहीं उठाता तो वह (प्राणी) इस थोड़े दिनों के लिये भाड़े पर लिये मकान के समान इस अपने पिंड पर क्यों मोह करता है ? ॥ ७ ॥"

भावार्थ:—जिस प्रकार मनुष्य भाड़े के मकान से मोह नहीं रखता और जिस प्रकार उससे जितना लाभ उठा सकता है उतना उठाता है इसी प्रकार अपने शरीर से, जो नाशवंत है, परोपकार, धर्म-कार्य आदि करके जो कुछ लाभ उठाया जावे उठाना चाहिये।

शरीर से होने वाला आत्महित

मृत्पिण्डरूपेण विनश्वरेण, जुगुप्सनीयेन गदालयेन।
देहेन चेदात्महितं सुसाधं, धर्मान्न किं तद्यतसेऽत्र मूढ ॥ ८ ॥

१. शरीर का पोषण अनुपकारी पर अनुकम्पा करना है।

२. शरीर तुम्हारी अपनी अधिकृत वस्तु नहीं, यह तो मोहराजा का वनाया हुआ वंदीगृह है।

३. शरीर तुम्हारा सेवक नहीं, यह तो मोहराजा का सेवक है।

४. शरीर रूपी वंदीगृह से छूटने के लिये असाधारण प्रयास की आवश्यकता है।

५. शरीर रूपी वंदीगृह से छूटने का उपाय 'पुण्य प्रकृति' का संचय करना है।

६. शरीर को नाजुक नहीं वनाना और इन्द्रियों को वश में रखना चाहिये।

७. शरीर से आत्महित करने के लिए धर्म-ध्यान करना चाहिये।

८. शरीर को भाड़े का मकान समझना चाहिये।

९. शरीर छोड़ते समय थोड़ा भी दुःख न हो ऐसी वृत्ति कर देना।

१०. शरीर की अशुचि पर विचार करना।

ज्ञानियों ने पुकार पुकार कर वार वार कहा है कि हे भाइयो! तुम स्त्री, पुत्र, धन और शरीर से मोह मत रखो। पर यह जीव जानता हुआ भी इससे ममता नहीं छोड़ता। विशेष कर शरीर की, वल्कि शरीर की वात वात पर चिंता कर उसे वड़ा कोमल वना देता है। वह फिर वहुत दुःख देता है, इसलिये शरीर से मोह मत करो। केवल शरीर को भाड़े का घर समझो जिससे इसे छोड़ते समय दुःख न हो। जिसे अगले भव में अच्छा स्थान मिलने की आशा नहीं उसे ही दुःख होता है।

शरीर की ममता नहीं रखनी चाहिए, पर उसकी उपेक्षा भी नहीं करनी चाहिए, क्योंकि इस शरीर की सहायता से संसार-समुद्र पार हो सकता है। इसलिये शरीर को स्वस्थ रखना चाहिये—Healthy body has a healthy mind। शुद्ध भोजन देकर—शरीर को भाड़ा देकर—मोक्ष साधना करनी चाहिए।

नोट १—ममत्व त्याग पर इस ग्रंथ में जो कुछ लिखा गया है वह पूर्ण त्यागियों की अपेक्षा से लिखा समझना चाहिये। आज के काल में साधारण गृहस्थ को इन युक्तियों से ममत्व त्याग के लिये उत्साह की जगह विपरीत प्रभाव की आशंका होती है। इन बातों से निरुत्साह, आत्महीनता, निरसहायता के भाव पैदा होते हैं और वह ममत्व त्याग को एक असंभव वस्तु समझने लगता है।

मनुष्य सत् कार्य करता है, जिनसे शुभ कर्म बंधते हैं वह कुकृत्य भी करता है जिस से अशुभ कर्म बंधते हैं। मनुष्य को सत्कार्य करने का उपदेश दिया जाता है, जिससे वह बुरे कर्म बंधन से बचे। परन्तु यह न भूलना चाहिए कि अच्छे कर्म भी जीव को बांधते हैं। मोक्ष की अपेक्षा से अच्छे कर्म भी बेड़ी रूप हैं, चाहे वह सोने की बेड़ी ही हो।

इसी प्रकार ममत्व मोह या प्रेम भी दो प्रकार का समझना चाहिये-प्रशस्त और अप्रशस्त। यह दोनों प्रकार का मोह मोक्ष की अपेक्षा से चाहे त्याज्य हो पर साधारण मनुष्य को वह कुमार्ग से बचाकर सन्मार्ग में प्रेरित करता है। स्त्री तथा सन्तान पर प्रशस्त मोह—ममत्व—उनको सन्मार्ग पर चलने चारित्रगठन करने और सदाचारी जीवन ढालने के लिए प्रोत्साहित करता है, और इस प्रशस्त मोह का अभाव, एक प्रकार से स्त्री तथा संतान को अरण्य में छोड़ देने के बराबर है, जहां उनको कुप्रभावों से बचाने वाला कोई नहीं है, ऐसा करना कर्त्तव्य से च्युत होना है। यही नहीं, ऐसा करना क्रूरता और हिंसा भी है।

अप्रशस्त मोह या ममत्व ऐसा लाड़—प्यार है जो पत्नी या संतान को बुरी आदतें डालने से तथा बुरी संगत करने से नहीं रोकता है।

इसी प्रकार शरीर के प्रति अप्रशस्त ममत्व, जो शरीर को अय्याशी विलासिता, आरामसलबी, आलसी इत्यादि दुर्गुण सिखाये, त्यागना चाहिये।

इस प्रकार अप्रशस्त ममत्व त्यागने पर ही पूर्ण रूप से ममत्व त्यागने की योग्यता या पात्रता आती है। बिना योग्यता या पात्रता के

ममत्व-त्याग की चेष्टा आत्म कल्याण नहीं कर सकती अपितु वह पतन कारी होती है।

नोट २—इस ग्रंथ में (१) स्त्री, (२) संतान (३) धन और (४) शरीर के ममत्व त्याग का उपदेश दिया गया है। यह गहराई से समझने योग्य है; केवल शब्दार्थ-आधारित विवेचन से विशेष लाभ नहीं होगा।

धार्मिक उपदेशों को कार्यान्वित करने के लिये कई बातों की आवश्यकता है। मुख्य बात यह है कि वे इस प्रकार से कार्यान्वित किये जाने चाहियें जिससे ध्येय की प्राप्ति हो। इसके लिये देश और काल की परिस्थिति, व्यक्ति की योग्यता या पात्रता का ज्ञान अपेक्षित है। स्त्री के ममत्व त्याग का यदि यह अर्थ लगाया जावे कि पुरुष विवाह करले, उसका परिवार भी हो जाय, वह संसार के सब काम करता रहे और स्त्री को चक्की का पाट समझकर उसकी उपेक्षा करे, उससे घृणा करता रहे, उसकी आवश्यकताओं की ओर ध्यान ही न दे और उसका तिरस्कार करे तो यह कल्याणकारी ममत्व का त्याग नहीं है अपितु यह पतनकारी मूर्खता और हिंसा है।

इसी प्रकार संतान के ममत्व त्याग के नाम पर उनकी ओर उपेक्षा दृष्टि रखे, उनसे प्रेम भरी भाषा में बोलकर उनको सन्मार्ग पर प्रोत्साहित करने से भी उदासीनता धारण कर ले तो वह भी

षष्ठम अधिकार

विषय प्रमाद त्याग

ममत्व दो प्रकार का होता है एक बाह्य दूसरा आभ्यन्तर। बाह्य ममत्व स्त्री, पुत्र धन तथा देह का है। इनको त्यागने का उपदेश प्रथम पाँच अधिकारों में दिया है। अब आभ्यन्तर ममत्व-त्याग का उपदेश यहाँ देते हैं। आभ्यन्तर ममत्व में विषय तथा प्रमाद का समावेश होता है। यहाँ विषय पाँच प्रकार के हैं। (१) स्पर्शेन्द्रिय (२) रसनेन्द्रिय (३) घ्राणेन्द्रिय (४) चक्षुरिन्द्रिय (५) श्रोत्रेन्द्रिय। इस प्रकार पाँच इन्द्रियों के पाँच विषय हुए। इसी प्रकार शास्त्रों में प्रमाद भी पाँच प्रकार का बताया है यथा—

मज्जं विसयकसाया, निद्दा विकहाथ पंचमी भणिया।
एए पंच पमाया, जीवं पाडंति संसारे॥

"(१) मद (२) विषय (३) कषाय (४) विकथा (५) निद्रा। यहाँ विषय को भी प्रमाद में सम्मिलित कर लिया है। अब विषय प्रमाद को छोड़ने की क्या आवश्यकता है इसे बताते हैं—

विषय सेवन से प्राप्त सुख तथा दुःख

अत्यल्पकल्पितसुखाय किमिन्द्रयार्थै—
स्त्वं मुह्यसि प्रतिपदं प्रचुर प्रमादः।
एते क्षिपन्ति गहने भवभीमकक्षे,
जन्तून्न यत्र सुलभा शिवमार्गदृष्टिः ॥१॥

"बहुत अल्प तथा काल्पनिक (अवास्तविक) सुख के लिये तू प्रमादवान् होकर बारंबार इन्द्रियों के विषय में क्यों फंसता है?

ये विषय प्राणी को संसार रूपी भयंकर वन में छोड़ देते हैं, जहाँ से मोक्ष मार्ग का दर्शन भी इस जीव को दुर्लभ हो जाता है ॥१॥

विवेचनः—पाँचों इन्द्रियों से प्राप्त विषय सुख जैसे स्त्री-संभोग, मिष्ट भोजन, गायन आदि बहुत प्यारे लगते हैं। परन्तु ये सब आनन्द कितनी देर तक चलते हैं? ये सब आनन्द कल्पित भी हैं, वास्तविक नहीं। कारण, इन्द्रिय जनित सुख आत्मिक सुख नहीं है। विषयसुख तो भव-भ्रमण कराने वाला है। इसमें फँसकर मनुष्य अपने आपको भी भूल जाता है। वह यह नहीं समझता कि मोक्ष क्या वस्तु है? उसका यहाँ तक पतन हो जाता है कि उसे मोक्ष जानने का अवसर तक नहीं मिलता। आत्मानंद प्राप्ति शान्त प्रदेश होना चाहिए, जहां शान्ति भंग करने वाला कोई न हो। ऐसे गहन वन में बैठ कर धर्म शास्त्र का अध्ययन और मनन करना चाहिए। इससे अंतःकरण में विचित्र आनन्द पैदा होता है। यही आनन्द स्वाभाविक आनन्द है। उस आनन्द की कोई समता-बराबरी नहीं कर सकता। उस सुख के सामने इन्द्रिय सुख या देवगति का सुख भी कोई वस्तु नहीं है।

विषयों का परिणाम हानिकर

आपातरम्ये परिणामदुःखे, सुखे कथं वैषयिके रतोऽसि।
जडोऽपि कार्यं रचयन् हितार्थी, करोति विद्वन् यदुदर्कतर्कम् ॥२॥

"विषय-सुख भोगते समय तो सुन्दर लगते हैं पर परिणाम में दुःख देने वाले हैं। ऐसे विषय-सुख में तू क्यों आसक्त होता है? हे बुद्धिमान्! अपना हित चाहनेवाला मूर्ख या गँवार पुरुष भी कार्य का परिणाम तो सोचता है ॥२॥

भावार्थः—विषय-जनित सुख एकान्त दुःख देने वाला है और तू एकान्त सुख की अभिलाषा रखता है। हे भाई, तू थोड़ा विचार कर कि एक मूर्ख भी जब कोई काम करता है तो उसका परिणाम क्या होगा इस पर विचार करता है। बुद्धिमान् होकर भी तू अल्प विषय-सुख को भोगते समय इस बात का ध्यान क्यों नहीं रखता?

मोक्ष सुख और संसार सुख

यदिन्द्रियार्थैरिह शर्म बिन्दवद्यदर्णवत्स्वःशिवगं परत्र च।
तयोर्मिथःसप्रतिपक्षताकृतिन्, विशेषदृष्टयान्यतरद् गृहाण तत् ॥३॥

"इन्द्रियों से जो सुख प्राप्त होता है वह एक बूँद के बराबर है और उसके त्याग से जो परलोक में स्वर्ग और मोक्ष का सुख है वह समुद्र के बराबर है। इन दोनों सुखों में परस्पर शत्रुता है। इसलिये हे भाई! इन दोनों में से एक को ग्रहण कर ॥३॥

भावार्थः—ऊपर के श्लोक में संसार और मोक्ष दोनों में भी सुख होता है यह बताया है, परन्तु दोनों में रात-दिन का अन्तर है। संसार सुख यदि एक बूँद के बराबर है तो मोक्ष सुख समुद्र के समान विशाल है। दूसरी बात यह है कि जहाँ संसार-सुख है वहाँ मोक्ष सुख नहीं और मोक्ष-सुख वहीं होता है जहां संसार-सुख की अपेक्षा (इच्छा) भी नहीं। संसार-सुख अल्प समय का होता है तो मोक्ष सुख अनन्त समय का। सांसारिक सुख थोड़ा और अन्त में दुखद होता है तो मोक्ष सुख अनन्त और नित्य है अर्थात् कभी घटता नहीं। अब इन दोनों सुखों की तुलना ऊपर बता दी। तुम्हें जो पसन्द हो उसे प्राप्त करो।

दुःख होने के कारणों का निश्चय

भुंक्ते कथं नारकतिर्यगादिदुःखानि देहीत्यवधेहि शास्त्रैः।
निवर्तते ते विषयेषु तृष्णा, बिभेषि पापप्रचयाच्च येन ॥४॥

"इस जीव को नारकीय तिर्यञ्च आदि के दुःख क्यों प्राप्त होते हैं यह शास्त्रों के पठन से जानो। इससे विषयों में रुचि कम होगी और पाप एकत्रित होने का भय लगेगा ॥४॥"

विवेचनः—नारकीय जीवों को इतनी भूख होती है कि १४ राजलोक के सब पुद्गलों को खा जावे तब भी तृप्ति नहीं होती। वे सब समुद्रों का जल पी जावें तब भी उनकी प्यास शान्त नहीं होती। इसी प्रकार अत्यन्त ठंडी तथा गर्मी का दुःख भोगना पड़ता है। तथा नरक के जीव परस्पर वेदना देते हैं।

तिर्यंच गति में जीव का मालिक नाक छिदवाता है, भार खिंचवाता है और वह मार खिलाता है इस प्रकार जीव अनेक तरह के दुःख पाता है।

मनुष्य गति में व्याधि, वृद्धावस्था, इष्ट वियोग, धन हरण, स्वजन मरण आदि अनेक दुःख हैं। देवलोक में इन्द्र की पराधीनता—देवों में परस्पर द्वेष तथा स्वयं का च्यवन-समय निकट समझ कर बहुत दुःख होता है। इस प्रकार चारों गतियों में दुःख है। इन दुःखों के कारणों की जानकारी तू शास्त्रों से प्राप्त कर। इससे तुझे इन विषयों से घृणा होगी और पापों से बचेगा।

उपरोक्त निश्चयों पर विचार

गर्भवासनरकादिवेदनाः पश्यतोऽनवरतं श्रुतेक्षणैः ।
नो कषायविषयेषु मानसं, श्लिष्यते बुध ! विचिन्तयेति ताः ॥५॥

"ज्ञान-चक्षु से गर्भावास, नारकीय अवस्था आदि के दुःखों का बारम्बार ध्यान कर, इससे तेरा मन विषयों की ओर नहीं जायगा। इसलिये हे बुद्धिमान् ! इस बात का तू बराबर विचार कर ॥ ५ ॥"

मरणभय—प्रमाद त्याग

वध्यस्य चौरस्य यथा पशोर्वा, संप्राप्यमाणस्य पदं वधस्य ।
शनैः शनैरेति मृतिः समीपं, तथाखिलस्येति कथं प्रमादः ॥६॥

"फाँसी की सजा वाले चोर की अथवा वध के स्थान पर ले जाए जाते पशु की मृत्यु धीरे-धीरे पास आती है। इसी तरह मृत्यु सब जीवों के भी दिन प्रतिदिन पास आती जाती है। यह जानकर भी तू प्रमाद क्यों करता है ? ॥ ६ ॥"

विवेचन :—प्रत्येक क्षण जो बीतता है उतनी ही मनुष्य की उम्र कम होती जाती है, इसलिये एक-एक क्षण भी बहुमूल्य है। उसका सदुपयोग करना चाहिये। मनुष्य उद्योग करने के लिए पैदा हुआ है। इसलिये उसे हर समय कुछ न कुछ कार्य करते रहना चाहिये। उसे अपना कर्तव्य पूरा करना चाहिये। बीता समय पीछे कभी हाथ नहीं

आना तथा दिन-दिन मृत्यु निकट आती जाती है यह समझ कर अपना कर्त्तव्य निबाहना चाहिये।

सुख के लिये भोगते विषयों से दुःख।

विभेषि जन्तो! यदि दुःखराशेस्तदिन्द्रयार्थेषु रतिं कृथा मा।
तदुद्भवं नश्यति शर्म यद्द्राक्, नाशे च तस्य ध्रुवमेव दुःखम् ।।७।।

"हे प्राणी! जो तुझे दुःखों का डर है तो इन्द्रियों में आसक्ति मत रख। विषयों से जो सुख होता है वह तुरन्त नष्ट हो जाता है। और उसके नाश से पीछे लंबे समय तक दुःख होता है ।।७।।"

भावार्थः—विषय सुख के विषय में बहुत सोच विचार करना चाहिये। एक तो विषय सुख थोड़े समय के लिये होता है, दूसरे अन्त में उसका परिणाम बुरा होता है, तीसरे उसके अभाव में दुःख भी होता है, चौथी बात यह है कि अगर हम अपनी खुशी से विषय-सुख छोड़ देते हैं तो बड़ा आनन्द आता है। यदि वह (विषय) हमको छोड़ देता है तो बहुत दुःख होता है ।। भर्तृहरि ने कहा है :—

स्वयं त्यक्ता ह्येते शमसुखमनन्तं विदधते।

अर्थात्:—यदि हम विषयों को छोड़ते हैं तो सुख होता है और जो विषय हमको छोड़ दें तो हमें दुःख होता है। इसलिये बुद्धिमान विषय को ही प्रथम छोड़ दें तो अनंत सुख होगा।

तू विषयों में क्यों मस्त होता है?

मृतः किमु प्रेतपतिर्दुरामया, गताः क्षयं किं नरकाश्च मुद्रिताः।
ध्रुवाः किमायुर्धनदेहबंधवः, सकौतुको यद्विषयैर्विमुह्यसि ।।८।।

"क्या यमराज मर गया है? क्या इस संसार के सभी रोग समाप्त हो गये हैं? या नरक के दरवाजे बंद हो गये हैं? क्या आयु, पैसा, शरीर तथा सगे सम्बन्धी सब हमेशा बैठे रहेंगे? जो तू इन विषयों में खुशी-खुशी विशेष मोह में फँसता है।"

संक्षेप—जिसको मरने का भय नहीं वह वि
समझ में आ सकता है। पर जिसके सिर पर यमराज
व्याधियों का पार नहीं, जिसके कृत्यों का फल नरक ही ,
आयुष्य अस्थिर है, जिसका शरीर क्षण भंगुर है और जिसके सब
सगे सम्बन्धी स्वार्थ पर्यन्त साथी हैं और जिसका संसार में कोई नहीं
तो ऐसा तू क्या समझ कर विषयों में पागल हो रहा है ?

विषय प्रमाद त्याग से सुख

विमोह्यसे किं विषयप्रमादैर्भ्रमात्सुखस्यायतिदुःखराशेः ।
तद्गर्धमुक्तस्य हि यत्सुखं ते गतोपमं चायतिमुक्तिदं तत् ॥९॥

"अनेक दुखों के आवासरूप भविष्य में सुख प्राप्ति के भ्रम से तू विषय प्रमादजन्य बुद्धि से क्यों मोहित होता है ? इन सुखों की अभिलाषा से दूर प्राणी को जो सुख होता है उसकी तुलना में विषयजन्य सुख कुछ नहीं है और यही बात नहीं वह भविष्य में मोक्ष को भी देने वाला होता है ॥ ९ ॥"

भावार्थ—विषयों में सुख मानना भ्रम है, क्योंकि उसमें कोई सुख नहीं, अपितु पीछे उन माने हुए सुखों से बहुत दुःख होता है। इस प्रकार विषय और प्रमाद दोनों जीव को दुःख में डालने वाले हैं। जो सुख लोक व्यवहार से रहित साधु को मिलता है वह सुख चक्रवर्ती सम्राट व इन्द्र को भी नहीं मिलता। आत्मा को जिससे आनन्द होता है वह सुख उत्कृष्ट है। इसमें कोई नई बात नहीं किन्तु यह संसारी सुख तो विषयजन्य और माना हुआ सुख है और कर्म बंधन का हेतु है। आत्मिक सुख तो सात्विक है और मुक्ति ही इस सुख का परिणाम है ?

× × × ×

ऊपर लिखे विषय के अनुसार विषय-प्रमाद-त्याग का अधिकार समाप्त होता है। समस्त अधिकार में बताया है कि मनुष्य को विषय-प्रमाद में नहीं फँसना चाहिये क्योंकि विषय सुख भोगकाल में ही अच्छा लगता है, वह अन्त में दुःखप्रद होता है। यह तात्कालिक सुख भी कल्पित है और संसार के अनेक दुःख इन्हीं विषयों के कारण

मान अहंकार त्याग

पराभिभूतौ यदि मानमुक्तिस्ततस्तपोऽखंडमतः शिवं वा।
मानाहतिदुर्वचनादिभिश्चेत्तपःक्षयात्तन्नरकादिदुःखम् ॥२॥
वैरादि चात्रेति विचार्य लाभालाभौ कृतिन्नाभवसंभविन्याम्।
तपोऽथवा मानमवाभिभूताविहास्ति नूनं हि गतिर्द्विधैव ॥३॥

अर्थः—दूसरे की ओर से अपमान होने पर भी मान नहीं करने से अखंड तप का लाभ होता है। और उससे मोक्ष भी प्राप्त हो सकता है। दूसरे के दुर्वचन सुन कर मान करे तो तप का नाश होता है। और नारकीय दुःख भोगना पड़ता है। इस भव में भी मान से वैर तथा विरोध होता है। इसलिये हे बुद्धिमानों! लाभ और हानि का विचार कर जब जब भी अपमान हो तो तप (अर्थात् मन पर अंकुश) या मान इन दो में से एक का रक्षण करो। इस संसार में ये दो ही रास्ते हैं।

विवेचनः—मनुष्य अपमानित होकर अपने मन का अंकुश खो बैठता है और क्रोध करता है। इससे आभ्यन्तर तप का नाश होता है और विनय तथा सद्ध्यान नहीं रहता। इससे कर्म-निर्जरा न होकर संसार-वृद्धि होती है। इसके विपरीत यदि मन को वश में रख क्षमा धारण की जाय तो इच्छित लाभ याने निर्जरा होती है। अतएव बुद्धिमान आदमी को अपना लाभ हानि सोच कर वर्तना चाहिये। उसे अहंकार नहीं करना चाहिये।

क्रोध त्याग करने वाला योगी है और मोक्ष प्राप्त करता है

श्रुत्वाक्रोशान् यो मुदा पूरितः स्यात्, लोष्टाद्यैर्यश्चाहतो रोमहर्षी।
यः प्राणान्तेऽप्यन्यदोषं न पश्यत्येष श्रेयो द्राग् लभेतैव योगी ॥४॥

अर्थः—जो आक्रोश (अपमान, फटकार) सुन कर भी क्रुद्ध न हो प्रत्युत आनन्दित होकर रोमाञ्चित हो जावे। उसे पत्थर आदि से कोई मारे तो भी उसका रोमरोम विकसित हो जावे, जो प्राणान्त होने तक भी पराये का दोष नहीं देखता वह योगी है, वह जल्दी मोक्ष जाने वाला है॥ ४॥

भावार्थ :—कोई मनुष्य कारणवश या अकारण ही किसी पर क्रोध करे या पत्थर मारे फिर भी वह क्रोध नहीं करे और समता रखे, मन को वश में रखे तो वह योगी कहलाता है। वह उस समय क्रोध न कर संसार का स्वरूप सोचता है। वह मन में सोचता है कि यह प्राणी मेरा उपकारी है, क्योंकि यह मेरे पूर्व संचित कर्मों से अल्प समय में छुटकारा दिलाने में सहायक है। जैसे स्कंदक मुनि महाराज के बहनोई ने उनकी चमड़ी उधड़वाई तो दुखी न होकर सुख अनुभव किया। गजसुकुमालजी के श्वसुर ने उनके सिर पर मिट्टी की पाल बना कर आग रखी तो भी गजसुकुमालजी ने शान्ति से सहा और समझा कि उनके श्वसुर ने मोक्ष रूपी सुसराल जाने के लिए पगड़ी बाँधी है। दमदन्त मुनि को कौरवों ने पत्थर मारे और पाण्डवों ने विनय किया तो भी दोनों को उन्होंने समभाव से देखा। न किसी पर क्रोध किया और न किसी पर प्रसन्न हुए। इस समभाव का कारण क्या था? केवल इस संसार का वास्तविक स्वरूप समझना तथा दूसरों के दुर्वचनों को सुनकर या उनसे यातनाएँ भी प्राप्त कर योगी पुरुष जब आत्मा और पुद्गल का भेद समझते हैं और क्रोध व हर्ष पर विजय प्राप्त करते हैं तो वे अपने पूर्व जन्म के किये हुए पापों का फल समझ कर शान्त रहते हैं और क्रोध नहीं करते।

कषाय निग्रह

को गुणस्तव कदा च कषायैर्निर्ममे भजसि नित्यमिमान् यत्
किं न पश्यसि दोषममीषां, तापमत्र नरकं च परत्र ॥ ५ ॥

अर्थ :—तेरे कषायों ने तुझे कब और क्या लाभ पहुँचाया जो तू उन्हें बार बार सेवन करता है? ये कषाय इस भव में दुःख और पर-भव में नरक देने वाले हैं। क्या तू इन दोषों को नहीं देखता? ॥ ५ ॥

विवेचनः—क्रोध में कोई लाभ नहीं है। किसी ने क्रोध में न कभी कोई गुण देखा है न सुना है। बल्कि क्रोध से पीड़ा अवश्य होती है। क्रोध की दशा में मनुष्य का मस्तिष्क तत्काल फिर जाता है और इस जन्म में दुःख और पर-भव में अपमान तथा नरक प्राप्त होता है। इसलिये समझदार आदमी कभी क्रोध न करे। यदि क्रोध कदाचित्

नहीं रुक सके तो यथाशक्ति उसे कम अवश्य करे, और ऐसा अवसर ही न आने दे जिससे क्रोध उत्पन्न होवे और संसार बंध हो।

कषाय करने और न करने पर विचार

यत्कषायजनितं तव सौख्यं, यत्कषायपरिहानिभवं च।
तद्विशेषमथवैतदुदर्कं, संविभाव्य भज विशिष्टम् ॥६॥

अर्थ :—कषाय सेवन से तुझे क्या सुख होता है और कषाय-क्षय करने से तुझे क्या सुख होता है इन दोनों में जो ज्यादा सुख दे वह कौनसा है अथवा कषाय का तथा कषाय त्याग का परिणाम क्या है इन दोनों को सोच विचार कर जो अच्छा हो उसे अंगीकर कर ॥ ६ ॥

भावार्थः—यह देखना है कि क्रोध, मान और माया अपनाने से क्या फायदा ? इसके फलस्वरूप सदा चित्त में अशान्ति तथा वैर-भाव उत्पन्न होता है। सामने स्थित मनुष्य के मन में भी आपके प्रति कुभावना ही होगी। इसके बदले यदि आप क्रोध, मान या लोभ नहीं करेंगे तो आपका चित्त शान्त रहेगा, दूसरा भी आपकी तरफ कुभावना नहीं करेगा, आपका मन आनन्द में रहेगा और आपके सुप्रभाव से सामने वाले के हृदय पर इतना प्रभाव होगा कि वह आपसे क्षमा मांगेगा—

इस प्रकार कषाय-त्याग से सबको सर्वदा आनन्द ही होता और समस्त जगत् मित्र बन जाता है—

कषाय त्याग-माननिग्रह-बाहुबली

सुखेन साध्या तपसां प्रवृत्तिर्यथा तथा नैव तु मानमुक्तिः।
आद्या न दत्तेऽपि शिवं परा तु, निदर्शनाद्बाहुबलेः प्रदत्ते ॥७॥

अर्थ :—जिस प्रकार तपस्या में प्रवृत्ति करना आसान नहीं है उसी प्रकार मान का त्याग करना भी आसान नहीं है। केवल तपस्या की प्रवृत्ति मोक्ष नहीं दे सकती किन्तु मान का त्याग मोक्ष देती है। जिस प्रकार मान का त्याग करने से बाहुबलीजी को मुक्ति प्राप्त हुई है। तपस्या करना

अति कठिन है पर प्रवृत्ति (practice) करने से वह सुलभ हो सकती है। परन्तु धन के या गुण के अंहकार व मान को छोड़ना बड़ा कठिन है। यह अंहकार मनुष्य में न जानते हुए भी पैदा होता है और समय पर बहुत दुःख देता है। कई लोग अपनी लघुता लोगों को अपने मुँह से बताते हैं तब भी मन से वे अपने बड़प्पन की छाप सामने वालों पर डालने की इच्छा रखते हैं। मनुष्य माया के चक्कर में ऐसा फँसता है कि उसे मालूम भी नहीं होता और सब किये कराये पर पानी फेर देता है। बाहुबलीजी ने घोर तपस्या की पर मान को नहीं त्याग सके। उनको इस मान का भान भी नहीं था पर जब उनकी बहनों ने आकर मान का भान कराया और कहा "भैया म्हारा गज थकी उतरो"। ये शब्द सुनते ही बाहुबलीजी को ध्यान आया और तत्काल मान को छोड़ दिया। मान छोड़ते देर नहीं हुई कि केवल ज्ञान होते ही मोक्ष प्राप्त किया। कहने का तात्पर्य यह है कि तपस्या आसान और मान का त्याग मुश्किल है। तपस्या से एकान्त मुक्ति नहीं जब कि मान के त्याग से तत्काल मुक्ति होती है।

मान की स्थिति में मनुष्य दूसरे के गुणों को आँक नहीं सकता। यदि वह आँकता भी है तो उसे वह अपने से बहुत कम प्रशस्त समझता है। मानी व्यक्ति अपने से ज्यादा गुणी के गुणों को हीन समझ विनय नहीं कर सकता। जो विनय धर्म का मूल है "विणओ धम्मस्स मूले" उसी का नाश इस मान से होता है। इससे स्पष्ट हो गया है तपस्या आसान है और मान की मुक्ति अति कठिन है। यदि जीव अपनी स्थिति तथा पौद्गलिक स्थिति के सम्बन्ध का ध्यान रखे तो इस मान का नाश हो सकता है।

मान त्याग—अपमान सहन

सम्यग्विचार्येति, विहाय मानं, रक्षन् दुरापाणि तपांसि यत्नात्।
मुदा मनीषी सहतेऽभिभूतीः, शूरः क्षमायामपि नीचजाताः ॥८॥

अर्थ :—इस प्रकार अच्छी तरह विचार करते हुए मान का त्याग करके और कष्ट से प्राप्त तप की यत्न पूर्वक रक्षा करते हुए क्षमा करने

में शूरवीर पंडित साधु नीच पुरुषों द्वारा किये अपमान को बड़ी प्रसन्नता के साथ सहन करता है ॥८॥

भावार्थ :—पंडित साधु अपमान को बड़ी प्रसन्नता से सहन करता है। वह यह सोचता है कि यह अपमान करने वाले मेरे शत्रु तो हैं नहीं, मैं केवल अपने कर्मों का फल भोगता हूँ। मान-त्याग तो फिर भी आसान है पर अपमान सहना अति कठिन है। ऐसे समय मनुष्य को यह सोचना चाहिये कि यह अपमान करने वाला व्यक्ति असमझ है, इसलिये इसके कार्य पर ध्यान देना व्यर्थ है। इस प्रकार सोचते हुए पंडित साधु अपने मन का संतुलन नहीं खोता। अपमान सहन करना कमजोर व्यक्ति का काम नहीं है। कहा है "कमजोर गुस्सा भारी"। अतएव शूरवीर ही अपमान को सहन कर सकता है। उसका मनोबल ऊँचा होता है। वह अपने मन को वश में रखता है।

संक्षेप से क्रोध-निग्रह

पराभिभूत्यालिपकयापि कुप्यस्यघैरपीमां प्रतिकर्तुमिच्छन्।

न वेत्सि तिर्यङ्नरकादिकेषु, तास्तैरनन्तास्त्वतुला भवित्रीः ॥ ९ ॥

अर्थ :—साधारण अपमान होने पर तू क्रोध करता है और प्रत्येक पापाचरण होने पर तू पापीजन से वैर के प्रतिशोध की इच्छा करता है। पर नारकी तथा तिर्यंच गतियों में तू अपार दुःख पावेगा इसको जानते हुए भी विचार नहीं करता ॥९॥

भावार्थ :—यह जीव अपमानित होने पर प्रतिद्वन्द्वी के प्रति क्रोध करके उससे शब्द, हाथ अथवा हथियार से वैर का प्रतिशोध लेने की बात सोचा करता है। इस प्रकार दूषित मनोविकार के कारण बेचारे जीव को कृत्य अकृत्य का ध्यान नहीं रहता और भविष्य के लिए भी विचार नहीं करता है। वह क्रोध के आधीन हो निरंकुश वृत्ति धारण कर व्यवहार करता है। वह इस भव में और परभव में दुःख पावेगा इसका विचार नहीं करता। मानसिक विकार, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि मनुष्य के लिए इस जीवन में भी हानिकारक हैं और भव भ्रमण भी कराते हैं। अतएव क्रोध से बचना चाहिये।

षड्रिपु पर क्रोध तथा उपसर्ग करने वाले के साथ मैत्री

धत्से कृतिन् ! यद्यपकारकेषु, क्रोधं ततो धेह्यरिषट्क एव ।
अथोपकारिष्वपि तद्भवार्त्तिकृत्कर्महन्मित्र बहिर्द्विषत्सु ॥१०॥

अर्थः—हे पंडित ! तुझे तेरे अहित करने वालों पर यदि क्रोध आता है तो अपने षट् रिपु (काम, क्रोध, लोभ, मान, मद और हर्ष) पर क्रोध कर और तू अपने हित करने वालों पर यदि क्रोध करता है तो संसार में अनेक प्रकार की पीड़ा पहुँचाने वाले कर्मों पर तथा उपसर्ग-परिषह पर, जो वास्तव में तेरे हितेच्छु हैं और बाह्यदृष्टि से जो तेरे शत्रु हैं, उन पर क्रोध कर ॥१०॥

भावार्थ—मनुष्य अपने पर अपकार करने वालों पर क्रोध करता है वह उनका शत्रु कहलाता है। उन शत्रुओं का स्वरूप बुद्धिमान् लोगों ने इस प्रकार बताया है, उसको ध्यान में रखना चाहिए :—

(१) परकीय या अपनी स्त्री के साथ अथवा कुमारी या वेश्या के साथ विषय सम्बन्ध करने की इच्छा करना—या कुचेष्टा करना—यह काम ।

(२) प्राणी पर क्रोध करना और इस बात का विचार नहीं करना कि इस गुस्से का स्वयं पर अथवा दूसरे पर क्या प्रभाव पड़ेगा। अपनी कितनी हानि होगी इसका विचार किये बिना मन को अस्त व्यस्त करना—यह क्रोध ।

(३) दान देने की सामर्थ्य होने पर भी दान नहीं देना। बिना कारण दूसरे का धन हरण करने की इच्छा रखना। धन की तृष्णा रखनी और परद्रव्य अथवा दूसरे की वस्तु लेने की इच्छा—यह लोभ

(४) जो गुण अपने में नहीं उस गुण की सत्ता अपने में मान लेना अथवा उसके होने का भाव दिखाना—मान (Vanity)

(५) कुल विद्या, धन आदि का घमंड करना—मद

(६) विना कारण दूसरे को दुःखी कर अथवा जुआ आदि व्यसन का आश्रय लेकर मन में प्रसन्न होना—हर्ष

उपरोक्त छः रिपु हैं, जो देखने में सुन्दर परन्तु फल में अत्यन्त दुखदायी हैं, इसलिये इन पर क्रोध करना और इनको छोड़ना उचित है। इसी प्रकार संसार में दुःख की जड़ कर्मों का त्याग करना है। उचित उपसर्गों को समता पूर्वक सहन करने से वास्तव में कर्म कटते हैं। ये इस प्रकार से मित्र और उपकारी हुए इसलिए इन पर क्रोध करना उचित नहीं। इसलिए उपरोक्त षट् रिपुओं को त्यागना चाहिये और उपसर्गों का आदर करना चाहिये, क्योंकि वास्तव में ये मित्र हैं। गजसुकमालजी के स्वसुर सोमल ने क्रोध के वशीभूत होकर उनके सिर पर आग रख कर उनके प्राण लिए, यह देखने में तो उपसर्ग हुआ परन्तु वास्तव में मोक्ष का कारण होने से उपसर्ग मित्ररूप हुआ—

माया निग्रह का उपदेश

अधीत्यनुष्ठानतपःशमाद्यान्, धर्मान् विचित्रान् विदधत्समायान्।
न लप्स्यसे तत्फलमात्मदेहक्लेशाधिकं तांश्च भवान्तरेषु ॥११॥

अर्थ :—यदि तू शास्त्राभ्यास, धर्मानुष्ठान, तपस्या शम इत्यादि धर्म या धर्म कार्य को माया के साथ आचरण करेगा तो इस जन्म में, तेरे शरीर को कष्ट के सिवाय भवान्तर में कोई भी फल नहीं प्राप्त होगा, और जो धर्म किया है वह भी भवान्तर में लाभकारी नहीं होगा।

विवेचन :—शास्त्राभ्यास, प्रतिक्रमण आदि धर्म कार्य वाह्य तथा आभ्यन्तर के भेद से वारह प्रकार के हैं—तप, उपशम, दम, यम, दान आदि धर्म कार्य यदि माया के साथ किये जाँय तो सब निष्फल हैं। माया—कपट या लुचाई का त्याग करना वहुत मुश्किल है। क्रोध और मान का तो तुरन्त भान हो जाता है, परन्तु गुप्त होने से माया का भान नहीं होता। कभी कभी तो स्वयं माया का व्यवहार करने वाले को भी माल्हम नहीं पड़ता। इसलिये धर्म कार्य करने वाले को भद्रीक होना जरूरी है। क्योंकि ऐसे मनुष्यों को वहुत कम कर्म वन्धन होता है। उपाध्यायजी महाराज फरमाते हैं कि

केशलोच करना, शरीर से मैल नहीं उतारना, पृथ्वी पर सोना, तपस्या आदि कष्टकारक व्रत धारण करना साधु के लिये सरल है पर माया का त्याग अति कठिन है। उदयरत्नजी महाराज फरमाते हैं:—

मुख मीठो झूठो मनेजी, कूट कपट को कोट,
जीभे तो जी जी करेजी, चित्त में ताके चोट,
प्राणी मा करीश माया लगार ॥

इसलिये शास्त्रकार कहते हैं कि कोई भी धर्म कार्य किया जाय यदि हृदय में कपट है तो सब व्यर्थ है। शास्त्र प्रत्येक स्थल पर स्याद्वाद का प्रयोग करते हैं परन्तु प्रसंग आने पर माया के लिए वे कहते हैं—'निष्कपट रहो—यह एकान्तवाद ही है।

लोभ निग्रह आदेश

सुखाय धत्से यदि लोभमात्मनो, ज्ञानादिरत्नत्रितये विधेहि तत्।
दुःखाय चेदत्र परत्र वा कृतिन्, परिग्रहे तद्वहिरान्तरेऽपि च ॥१२

अर्थः—हे पंडितो! यदि तुम अपने सुख के लिये लोभ करते हो तो ज्ञान, दर्शन और चारित्र इन तीन रत्नों के संचय करने का लोभ करो और यदि तुम्हें इस भव में और परभव में दुःख इकट्ठा करने का लोभ हो तो आन्तर तथा बाह्य परिग्रह के लिये लोभ करो॥ १२॥

विवेचन:—यदि किसी व्यक्ति को आत्मा के सुख का लोभ हो तो उसे अपनी आत्मा के मूल गुणों की प्राप्ति का लोभ करना चाहिये। जो व्यक्ति बाह्य वस्तु की प्राप्ति के लिये लोभ करेगा उसका आन्तर और बाह्य परिग्रह बढ़ेगा, जो इस भव में तथा परभव दोनों में निरन्तर दुःख देने वाला है। बाह्य परिग्रह धन, धान्य, क्षेत्र, वस्तु, रुपया, सोना, धातु, द्विपाद, और चतुष्पाद ये नौ प्रकार के हैं। तथा आन्तर परिग्रह मिथ्यात्व, तीन वेद, हास्यादि छः दोष और चार कषाय ये चौदह प्रकार के परिग्रह हैं जो संसार में दुःख देते हैं। इसलिये लोभ करना हो तो ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूपी रत्नों की प्राप्ति का लोभ करना चाहिये।

लोभ का स्वरूप समझना अत्यन्त आवश्यक है। लोभ समुद्र की तरह विशाल है, उसका पार पाना कठिन है। लोभी प्राणी सुखी नहीं रहता, उसके चित्त को शान्ति नहीं मिलती है। इसलिये लोभ को पाप का बाप कहा है। उमास्वाति वाचक महाराज ने प्रशमरति में कहा है "सर्व गुण विनाशनं लोभात्" लोभ से सब गुण नष्ट हो जाते हैं। सीता ने सोने के मृग की प्राप्ति के लोभ में अपने पति रामचन्द्रजी को भेजा तो स्वयं उसका अपहरण हुआ; धवल सेठ लोभ में अन्धा होकर श्रीपालजी की सज्जनता को न देख कर स्वयं मौत के मुख में गया और सातवें नरक में गया।

लोभ का शत्रु संतोष है। संतोष मन में आते ही हृदय से बोझ एकदम हट जाता है, और आनन्द प्रगट हो जाता है। बुद्धिमान् पुरुष हैं कि मन में संतोष आने पर "कौन गरीब और कौन अमीर।"

मद मत्सर निग्रह उपदेश

करोपि यत्प्रेत्य हिताय किञ्चित्, कदाचिदल्पं सुकृतं कथञ्चित्।
मा जीहरस्तन्मदमत्सराद्यैर्विना च तन्मा नरकातिथिर्भूः ॥१३॥

अर्थ :—दैववश यदि अगले भव के लिये अच्छा काम करने का अवसर आवे तो तू उसे मद मत्सर करके क्यों नष्ट करता है। तू सुकृत किये विना नरक का अतिथि मत वन ॥ १३ ॥

भावार्थः—पुण्यों के बलवान होने पर जीव को मनुष्य जन्म प्राप्त होता है। उत्तम कुल, उत्तम धर्म (जैन धर्म), सद्गुरु की प्राप्ति तथा इसमें भी श्रद्धा पाना तो बहुत दुर्लभ है। यह सब पाकर यदि वह अहंकार या मत्सर करता है तो उसका अधःपतन होता है। पुनः वापिस उन्नति की ओर चढ़ने का अवसर नहीं आता। इसलिये यदि तेरे पास धन, वैभव, गुण, पुत्र आदि संसारी वस्तुएँ हैं तो तू अहंकार मत कर। यदि ये संसारी सुख तेरे पास नहीं हैं तो औरों के पास देखकर मन में द्वेष भी मत कर। तुझे सोचना चाहिये कि ये सब कर्माधीन हैं।

विशेष कर ईर्ष्या नहीं करना

पुरापि पापैः पतितोऽसि संसृतौ, दधासि किं रे गुणिमत्सरं पुनः।
न वेत्सि किं घोरजले निपात्यसे, नियंत्र्यसे शृङ्खलया च सर्वतः ॥१४॥

अर्थः—तू पापाचरण के कारण ही संसार में आया है। फिर भी गुणवान व्यक्तियों से ईर्ष्या करता है। इस पाप से तो तू और भी गहरे पानी में डूब जावेगा। तेरा यह शरीर कर्मरूपी बन्धनों से बँधता रहता है, इस बात को तू नहीं विचारता ॥ १४ ॥

भावार्थः—कर्म ही संसार-भ्रमण कराने वाले हैं यह सर्व-विदित है, फिर भी तू गुणवान् के प्रति ईर्ष्या कर क्यों कर्म बन्धन करता है। कर्म बन्धन से अधोगति प्राप्त होती है और संसार बढ़ता है, इसलिये यदि संसार-भ्रमण से बचना है तो गुणवान् व्यक्तियों के आचरणों का अनुकरण करो। गुणवान् के गुणों की प्रशंसा से वे ही गुण तुम में आ जावेंगे, कर्मों का नाश हो जायगा और जीवन शुद्ध हो जायगा।

कषाय से सुकृत का नाश

कष्टेन धर्मो लवशो मिलत्ययं, क्षयं कषायैर्युगपत्प्रयाति च।
अतिप्रयत्नार्जितमर्जुनं ततः, किमज्ञ ही हारयसे नभस्वता ॥१५॥

अर्थः—धर्म का संग्रह बड़े कष्ट से और बूंद बूंद संचय के समान होता है पर वह कषाय करने से एक साथ नष्ट हो जाता है। हे मूर्ख! बड़ी मुश्किल से प्राप्त किया हुआ सोना एक फूँक में क्यों उड़ा देता है ? ॥ १५ ॥

भावार्थः—श्रुति में बताए हुए चरित्र लक्षण और धर्म बड़ी मुश्किल से थोड़ा थोड़ा कर प्राप्त होते हैं। और 'अनन्त पुद्गल परावर्त्तन होने के पीछे अन्त के परावर्त्तन में थोड़ा सा धर्म प्राप्त होता है। ऐसी कठिनता से प्राप्त धर्म की बड़ी सावधानी और पुरुषार्थ से रक्षा करनी चाहिये। यह धर्म भी कषाय करने से एकदम नष्ट हो जाता है। सद्गुणों के कारण उन्नत स्थानों में चढ़ा हुआ प्राणी भी मोहनीय कषाय से एकदम नीचे गिर जाता है। फिर पीछे गुणस्थान पर चढ़ना

बहुत कठिन हो जाता है। अतएव धर्म रूपी स्वर्ण रज को कषाय रूपी धौकंनी की एक ही फूँक से उड़ा नहीं देना चाहिये।

धर्म का आचरण तो मनुष्य जन्म में ही किया जा सकता है। प्रथम तो मनुष्य भव प्राप्त करना अति दुर्लभ है। मनुष्य जन्म प्राप्त कर अपना समय भोग विलास अथवा उदरपूर्ति की चिन्ता में बिता देता है। इससे समय बचने पर मनुष्य में ज्ञान प्राप्त करने की योग्यता तथा जिज्ञासा होना मुश्किल है, फिर शुद्ध गुरु का संयोग प्राप्त होना बड़े पुण्य से होता है। इतना साधन प्राप्त होने पर कहीं धर्म प्राप्त होता है। इतनी कठिनता से प्राप्त धर्म को यदि कषाय कर नाश कर दिया जाय तो इससे अधिक मूर्खता और क्या हो सकती है? इसलिये कषाय पर अंकुश रखना चाहिये।

कषायों से हानि की परम्परा

शत्रूभवन्ति सुहृदः, कलुषीभवन्ति,
धर्मा, यशांसि निचितायशसीभवन्ति।
स्निह्यन्ति नैवं पितरोऽपि च बान्धवाश्च,
लोकद्वयेऽपि विपदो भविनां कषायैः ॥१६॥

अर्थः—कषाय से मित्र भी शत्रु बन जाता है, धर्म मलिन हो जाता है, यश अपयश में बदल जाता है, माता-पिता, भाई-बहन कोई प्रेम नहीं रखते और इस लोक में और परलोक में विपत्तियाँ आ घेरती हैं। कषाय में क्रोध, मान, माया और लोभ का समावेश होता है। क्रोध से मित्र भी शत्रु हो जाता है। अभिमानी पुरुष का तिरस्कार होता है। लोभी की सब जगह बुराई होती है। कपटी का कोई विश्वास नहीं करता। जिनमें ये अवगुण होते हैं उनसे लोग सदा दूर दूर रहते हैं। उनका दुःख-दर्द में कोई साथ नहीं देता। यहां तक कि माता, पिता और भाई-बन्धु भी दूर रहते हैं। कषाय से इस भव में और परभव में अनेक दुःख होते हैं और पुण्य का नाश होता है और लाभ कुछ भी नहीं। इसके उपरान्त दुःख की परम्परा अनेक भवों में चलती है। अभिमानी व्यक्ति को नीच गोत्र,

लोभी व्यक्ति को दरिद्रता और मायावी को स्त्री-देह प्राप्त होता है ऐसा शास्त्रों का कथन है।

मद निग्रह का उपदेश

रूपलाभकुलविक्रमविद्याश्रीतपोवितरणप्रभुताद्यैः ।
किं मदं वहसि वेत्सि न मूढानन्तशः स्म भृशलाघवदुःखम् ॥१७॥

अर्थः—रूप, लाभ, कुल, बल, विद्या, लक्ष्मी, तप, दान, ऐश्वर्य आदि का घमंड तू क्या समझ कर करता है ? मूर्ख ! अनन्त बार तूने इस नीचता का दुःख सहन किया है क्या तू यह नहीं जानता ? ॥१७॥

भावार्थ :—कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य ने इस प्रकार कहा है।

जातिलाभकुलैश्वर्यबलरूप तपःश्रुतैः ।
कुर्वन् मदं पुनस्तानि हीनानि लभते जनः ॥

अर्थात्—उपरोक्त आठ मदों को करने से उन्हीं विषयों में नीचता प्राप्त होती जैसे—

(१) जातिमद याने मैं उत्तम जाति का हूँ ऐसा गर्व करने से जीव चांडाल के कुल में पैदा होता है। (२) लाभमद—छः खंड के लाभ के कारण मद में आकर सुभूम चक्रवर्ती सातवाँ खंड साधने गया तो उसने अपना प्राण खोया। (३) कुल मद—हमारे पूर्वज ऐसे थे इस प्रकार मद करने से मरीचि को नीच कर्म-बंधन हुआ। (४) ऐश्वर्य-मद

होने पर भी केवल सूत्र रूप में मिला। उनका अर्थ नहीं पढ़ाया जा सका। ये आठ मद बहुत विचारणीय हैं। इनके प्रति मनुष्य को बहुत सतर्क रहना चाहिये—

ये आठ मद बहुत विचारणीय हैं यदि मनुष्य इनमें फँस जाता है तो दुःख पाता है। मनुष्य को मद नहीं करना चाहिये। जो गुण प्राप्त हुए हैं वे पूर्व भव के पुण्य के प्रताप से, तो इनमें मद क्यों? फिर जिन गुणों का तुमको मद है ऐसे गुणवाले, बल्कि तुम से भी बहुत अधिक गुण वाले इस संसार में बैठे हैं, फिर मद का क्या कारण? मद करें भी तो ऐसा गुण का करें जो संसार में किसी के पास न हो। फिर भी मद करना उचित नहीं; कारण ये सब नश्वर हैं।

संसार वृक्ष की जड़ कषाय

विना कषायान्न भवार्तिराशिर्भवद्भवेदेव च तेषु सत्सु।

मूलं हि संसारतरोः कषायास्तत्तान् विहायैव सुखीभवात्मन् ॥१८॥

अर्थ :—कषाय के न होने पर संसार की अनेक पीड़ाएँ नहीं होतीं। जहाँ कषाय होता है वहाँ पीड़ा अवश्य होती है। संसार-वृक्ष की जड़ कषाय है। इसलिये हे चेतन! (जीव) कषाय त्याग कर सुखी हो॥१८॥

भावार्थ :—इस श्लोक में सब अधिकार का सार आ गया। जहाँ कषाय है वहाँ संसार है और जहाँ कषाय नहीं वहां संसार नहीं। इस आत्मा को संसार रूपी समुद्र में डुबाने वाला कषाय है। यदि कषाय नहीं हो तो इस जीव के लिये मोक्ष सरल है।

कषाय के साथी विषय का त्याग

समीक्ष्य तिर्यङ्नरकादिवेदनाः, श्रुतेक्षणैर्धर्मदुरापतां तथा।

प्रमोदसे यद्विषयैः सकौतुकैस्ततस्तवात्मन् विफलैव चेतना ॥१९॥

अर्थ :—शास्त्र रूपी आँखों से तिर्यन्च आदि नारकीय प्राणियों की वेदना जानकर और उसी प्रकार धर्म प्राप्ति की कठिनाई को

जानकर भी तू कुतूहल वश विषयों में आनन्द मानता है तो हे चेतन ! तेरी चेतनता व्यर्थ है ॥१९॥

भावार्थ :—विषय तथा प्रमाद परस्पर मिलने वाले हैं और विषय तथा कषाय एक दूसरे के साथी हैं। इसलिये विषय तथा कषाय दोनों की चर्चा यहां की गयी है। देवलोक में च्यवन होने का दुःख है। मनुष्य लोक में प्रसूति, वियोग, व्याधि, वृद्धावस्था, मृत्यु इत्यादि का दुःख है, तिर्यंच गति में पराधीनता का दुःख तथा नारकीय प्राणियों में तो दुःख ही दुःख है। ये सब बातें शास्त्रों से ज्ञात हैं। तू जानता है कि पांच इन्द्रियाँ भी बहुत मुश्किल से मिलती हैं और यह भी जानता है कि धर्म तो इससे भी अधिक कठिनता से प्राप्त होता है तो भी तू यदि अपनी आदत को नहीं सुधारता है तो तेरा सब ज्ञान निरर्थक है।

कषाय के साथी प्रमाद का त्याग

चौरैस्तथा कर्मकरैर्गृहीते; दुष्टैः स्वमात्रेऽप्युपतप्यसे त्वम् ।
पुष्टैः प्रमादैस्तनुभिश्च पुण्यं धनं न किं वेत्स्यपि लुट्यमानम् ॥२०॥

अर्थ :—यदि चोर या तुम्हारा नौकर तुम्हारा जरासा भी धन चोरी कर लेता है तो तुम्हें गुस्सा आता है और साधारण अथवा बड़ा प्रमाद तेरे पुण्य धन को लूट लेता है तो तू उसे जानता भी नहीं ॥२०॥

भावार्थ :—घर में यदि चोर या नौकर चोरी करता है तो सजा दी जाती है, पर मद्य, विषय, कषाय, विकथा रूप प्रमाद चोर हैं। ये तेरा पुण्य धन लूट ले जाते हैं, इसकी तू कुछ चिंता नहीं करता ? तू कैसा बुद्धिमान् है। अब चेत, उठ और विचार कर।

विध्वस्ता नरका न नापि सुखिता धर्मैस्त्रिलोकी सदा,
तत्को नाम गुणो मदश्च विभुता का ते स्तुतीच्छा च का ॥२१॥

अर्थ :—हे भाई! तूने आज तक किसी प्राणी को मौत से नहीं बचाया, न इस जगत् का दारिद्र्य मिटाया, न रोग, चोर, राजभय आदि १६ भयों का तूने नाश किया है, न नरकगति के भय का नाश किया है और न धर्म करके तीन लोकों को सुखी किया तो तुझमें ऐसा कौनसा गुण है जिसका तू गर्व करता है? अब बिना ऐसा कोई काम किये तू अपनी स्तुति की भी इच्छा रखता है? ॥२१॥

विवेचन :—प्रायः देखा गया है कि लोग अपने आप को बहुत बड़ा समझते हैं, वे बिना कोई अच्छा काम किये अपनी प्रशंसा सुनना चाहते हैं और अकड़ कर रहते हैं। उनको समझना चाहिये कि उन्होंने ऐसा क्या बड़ा काम किया है जो इतना घमंड करते हैं। क्या उन्होंने किसी को मृत्यु से बचाया या संसार को भय, रोग अथवा दुःख से बचाया जिसके कारण वे इतना घमंड करते हैं। वास्तव में जो संसार को सुखी करने की शक्ति रखता है उन्हें घमंड नहीं होता। घमंड करना अपने आपको धोखा देना है।

× × × ×

कषाय का अधिकार पूर्ण हुआ अब कषाय के भेदों पर संक्षेप से विचार करेंगे।

क्रोध :—क्रोध के बारे में एक विद्वान् ने कहा है—

संतापं तनुते भिनत्ति विनयं सौहार्दमुत्सादय—
त्युद्वेगं जनयत्यवद्यवचनं सूते विधत्ते कलिम्।
कीर्तिं कृन्तति दुर्मतिं वितरति व्याहन्ति पुण्योदयं,
दत्ते यः कुगतिं स हातुमुचितो रोषः सदोषः सताम्॥

"क्रोध संताप पैदा करता है, विनय और धर्म का नाश करता है, मित्रता का अंत करता है, और उद्वेग पैदा करता है। यह नीच वचन कहलाता है, क्लेश कराता है, कीर्ति का नाश तथा दुर्मति उत्पन्न करता

है। यह पुण्य का नाश करता है और मानव को कुगति देता है। ऐसे-ऐसे अनेक दोष इस क्रोध से उत्पन्न होते हैं। क्रोध से हानि तो प्रत्यक्ष है पर लाभ एक भी नहीं। महात्मा कहते हैं कि क्रोध त्याग से मोक्ष भी सुलभ है।"

अभिमान :—यह ऐसा मीठा कषाय है कि स्वयं अभिमान करने वाले को मालूम नहीं होता है। अभिमान से विनय का नाश होता है। इससे समकित प्राप्ति नहीं होती। अभिमानी आदमी से लोग दूर रहना पसंद करते हैं। बाहुबलीजी को घोर तपस्या करने पर भी अभिमान के कारण केवलज्ञान नहीं हुआ।

माया :—यह भी मीठा कषाय है। इस माया के कारण जीव को महातीव्र पाप बँधता है। एक बार माया करने पर उसे निभाना बहुत कठिन हो जाता है और अनेक मायाएँ रचनी पड़ती हैं। यह माया छिपी नहीं रहती इसके मालूम होने पर लोग माया करने वाले का तिरस्कार करते हैं।

लोभ :—लोभ को पाप का बाप कहा है (लोभ पापकर मूल)। इससे सब गुणों का नाश होता है। लोभ का कभी अंत नहीं होता। ज्यों-ज्यों वस्तु की प्राप्ति होती है लोभ बढ़ता ही जाता है। लोभवश आदमी बड़ी से बड़ी हिंसा करने पर उतारू हो जाता है। लोभ का चश्मा पहनकर मनुष्य छोटे व्यक्तियों को भी बड़ा समझने लगता है और उनके पास अनेक प्रकार की याचना कर अपने जीवन को सन्तापमय बना लेता है।

इस प्रकार कषाय ही संसार की जड़ है "मूलं हि संसार तरोः कषायाः। विषय तथा प्रमाद कषाय के सहचर हैं।

अष्टमाधिकार

शास्त्रगुण

ऊपरी शास्त्राभ्यास

शिलातलाभे हृदि ते वहन्ति, विशन्ति सिद्धान्तरसा न चान्तः ।
यदत्र नो जीवदयार्द्रता ते, न भावनांकुरततिश्च लभ्या ॥१॥

अर्थ :—तेरा हृदय पत्थर के समान सपाट है सिद्धान्त-जल उसके ऊपर से बहता हुआ भी तेरे अन्दर प्रवेश नहीं करता। इस कारण तेरे हृदय में जीवदयारूप नमी नहीं है। अतः भावना रूप अंकुर भी नहीं उगते ॥१॥

विवेचन :— साधुजी के व्याख्यान अथवा शास्त्र-अभ्यास का मनुष्यों के हृदय पर प्रभाव थोड़ी ही देर रहता है और फिर मिट जाता है। जिस प्रकार सिला पर पानी पड़ने पर भी थोड़ी देर में शिला सूख जाती है, उसी प्रकार शास्त्र-श्रवण का भी असर साधारण मनुष्यों के हृदयों पर थोड़ी ही देर रहता है। जब तक श्रोता की जिज्ञासु प्रवृत्ति नहीं होती तब तक उसको शास्त्र-श्रवण कोई लाभ नहीं करता। ज्योंही वे जिज्ञासु हुए और उन पर सिद्धान्त-जल पड़ा त्योंही मैत्रीभावना रूप पौधा उगता है। इस प्रकार वर्तने पर तत्त्व संवेदना [ज्ञान] प्राप्त होता है। तभी शास्त्र पढ़ने का लाभ है। परन्तु इस लोक में लोग बहुधा दिखावे के लिये शास्त्राभ्यास करते हैं। लेकिन आगम अभ्यास या पढ़ने मात्र से फल नहीं देते, वरन् उनके अनुसार आचरण करने पर वे फल देते हैं

शास्त्र पढ़े लिखे प्रमादी को आदेश

यस्यागमाम्भोदरसैर्न धौतः प्रमादपङ्कः स कथं शिवेच्छुः ।
रसायनैर्यस्य गदाः क्षता नो, सुदुर्लभं जीवितमस्य नूनम् ॥२॥

अर्थ :—जो प्राणी प्रमाद रूपी कीचड़ को सिद्धान्त रूपी वर्षा के जल प्रवाह से नहीं धोता वह कैसे मुमुक्षु (मोक्ष की इच्छा वाला) हो सकता है ? जिस प्राणी की व्याधि रसायन से भी दूर नहीं होती उसका जीवन बचेगा नहीं, ऐसा समझना चाहिये ॥२॥

भावार्थ :—शास्त्र में आठ प्रकार के प्रमाद* कहे हैं। (१. संशय, २. विपर्यय (उलटा ज्ञान), ३. राग, ४. द्वेष, ५. मतिभ्रंश, ६. मन, वचन और काया के योग से दुः प्रणिधान, ७. धर्म का अनादर ८. अज्ञान) यदि शास्त्र श्रवण करने से ये आठ प्रकार के प्रमाद नष्ट नहीं होते हैं तो जीव को अनन्त काल तक भव-भ्रमण करना ही पड़ेगा, ऐसा समझना चाहिये ? जहां प्रमाद है वहां कार्य-सिद्धि नहीं। साधु जीवन में भी प्रमत्त अवस्था अधःपतन कराती है और साध्य मार्ग को लम्बा करती है।

प्रमाद अवस्था दूर करने के लिए शास्त्राभ्यास की आवश्यकता है। शास्त्राभ्यास से स्वयं कौन हूँ, मेरा क्या कर्त्तव्य है तथा साध्य बिन्दु क्या है और उसको प्राप्त करने का क्या उपाय है आदि बातों का ज्ञान होता है। परन्तु ये अभ्यास भी मननपूर्वक कार्य करने में परिणत होना चाहिये और यदि अभ्यास करके मनन पूर्वक कार्य नहीं किया तो सब क्रिया निष्फल है, और मोक्ष प्राप्ति जो जीवन का साध्य है प्राप्त नहीं होती। अतएव शास्त्राभ्यास से प्रमाद दूर कर मनन पूर्वक ध्येय प्राप्त करने का पुरुषार्थ करना चाहिये।

स्वपूजा के लिए शास्त्राभ्यास करने वालों के लिये

अधीतिनोऽर्चादिकृते जिनागमः प्रमादिनो दुर्गतिपापतेर्मुधा ।
ज्योतिर्विमूढस्य हि दीपपातिनो, गुणाय कस्मै शलभस्य चक्षुषी ॥३॥

अर्थ :—दुर्गति में पड़ने वाला प्राणी अपनी प्रतिष्ठा के लिये जैन शास्त्र का अभ्यास करता है। यह निष्फल है। जिस प्रकार पतंगा

---

* प्रमाद पांच प्रकार के भी बताये हैं-वे ये हैं :—१. मद्य, २. विषय, ३. कषाय, ४. विकथा, ५. निद्रा; इनका रूप छठे अधिकार में दिया है।

दीपक की ज्योति से मुग्ध होकर दीपक में पड़ता है तो उसे ऐसी आँखों से क्या लाभ ?

भावार्थः—आँखों के विना यह जीवन दुःखमय है। यदि उन्हीं आँखों का दुरुपयोग जीवन का नाश करे तो ऐसी आँखें व्यर्थ हैं। इसी प्रकार शास्त्राभ्यास दुर्गति का नाश करता है। पर यदि वही अभ्यास अपनी पूजा सत्कार के लिये की जावे तो वह निष्फल ही नहीं अपितु हानिकारक ही है। शास्त्राभ्यास का अर्थ है प्रमाद हटाना और सद्गति प्राप्त करना, पर इसके बदले मनुष्य अपनी वाहवाही की इच्छा प्राप्ति अथवा प्रतिष्ठा प्राप्त करता है तो शास्त्रकार इसको हानिकारक ही मानते हैं। क्योंकि वह मनुष्य को उसके लाभ (मोक्ष) से दूर ले जाती है। जब तक मनुष्य का ज्ञान उसे यह नहीं बताता कि वह कौन है, उसका कर्त्तव्य और लक्ष्य क्या है, तब तक वह ज्ञान नहीं, अज्ञान है।

परलोक-हित-बुद्धि के विना अभ्यास करने वालों के प्रति

मोदन्ते बहुतर्कवितर्कणाः केचिज्जयाद्वादिनां,
काव्यैः केचन कल्पितार्थघटनैस्तुष्टाः कविख्यातितः ।
ज्योतिर्नाटकनीति–लक्षणधनुर्वेदादिशास्त्रैः परे,
ब्रूमः प्रेत्य हिते तु कर्मणि जडान् कुक्षिम्भरीनेव तान् ॥४॥

ऐसे लोग केवल देखने में धार्मिक हैं। यथार्थ में वे पेट भराई करने वाले ही हैं।

सम्यग्-दृष्टि वाले के लिये जो मतिज्ञान है वही मिथ्या दृष्टि वाले के लिये 'मति अज्ञान' है। इसी प्रकार से जो ज्ञान शास्त्राभ्यास से प्राप्त होता है वह पात्रानुसार श्रुत ज्ञान अथवा श्रुत अज्ञान होता है। अर्थात् ज्ञान तो दोनों ही हैं, परन्तु जिस ज्ञान से आत्म-तृप्ति नहीं होती तो वह अज्ञान ही है। अज्ञान कषाय आदि शत्रुओं से भी बुरा है। विद्वान् होना या शास्त्रार्थ में निपुण होना इसमें कोई खुशी की बात नहीं, परन्तु वास्तविक खुशी तो आत्मिक तृप्ति में है। अन्यथा उसका ज्ञान केवल उदरपूर्ति के लिये है जो जीव को संसार में भटकाने वाला है?

शास्त्र पढ़कर क्या करना?

किं मोदसे पण्डितनाममात्रात्, शास्त्रेष्वधीती जनरञ्जकेषु।
तत्किञ्चनाधीष्व कुरुष्व चाशु, न ते भवेद्येन भवाब्धिपातः ॥५॥

अर्थ :—लोक रंजक शास्त्रों का अभ्यास कर तू पण्डित नाम से क्यों प्रसन्न होता है? तू कोई ऐसा अभ्यास या अनुष्ठान कर जिससे तुझे संसार-समुद्र में न गिरना पड़े ॥५॥

भावार्थ :—ऊपर सब बातें स्पष्ट हैं। शास्त्राभ्यास मात्र से प्रसन्न होना काफी नहीं है, उसके अनुसार आचरण भी करना चाहिये। जीवन में दान, शील, तप, भावना अथवा शुद्ध वर्तन, अनुकंपा और विवेक प्रकट होने चाहियें। शास्त्राभ्यास से कीर्त्ति प्राप्त हो तो होवे, परन्तु इसे प्राप्त करने की तृष्णा नहीं रखनी चाहिये। तुमको आध्यात्मिक जीवन के उच्चस्थान या उच्च गुणस्थान प्राप्त करने की ओर प्रवृत्ति पैदा करने में लगना चाहिये। यही अभ्यास का फल है।

ज्ञान दो प्रकार का होता है एक तो मस्तिष्क को परिपक्व बनाना (Mental training) अर्थात् भाषण या वाद-विवाद का हेतु, जो आध्यात्मिक चिंतन में निरर्थक समझा जाता है। दूसरा हृदय-सुधार या आत्म-

परिणतिमत् ज्ञान (Moral training) है। इस ज्ञान से मनुष्य कार्य और अकार्य को समझता है, वह सदा शुद्ध मार्ग की ओर चलता है, उसके हृदय में वैराग्य उत्पन्न होता है और एक समय ऐसा आ जाता है कि वह भव-समुद्र से तर जाता है।

शास्त्राभ्यास करके संयम रखो

विगागमैर्मोघिसि रञ्जयन् जनान्, नोद्यच्छसि प्रेत्यहिताय संयमे ।
दधासि कुक्षिम्भरिमात्रतां मुने, कते कतत् क्वैष च ते भवान्तरे ॥६॥

अर्थ :—हे मुनि ! सिद्धान्तों के अभ्यास से लोगों का मनोरंजन करके तू खुश होता है, और अपने आमुष्मिक हित (आत्म परिणति) सुधारने का यत्न नहीं करता, इसलिये तुझे धिक्कार है ! तू केवल पेट भरने का उपाय जानता है, पर हे मुने ! तू थोड़ा विचार कर कि भवान्तर में ये आगम कहाँ जायेंगे, तेरे मनोरंजन और संयम का क्या फल होगा ? ॥६॥

भावार्थ :—शास्त्राभ्यास कर यदि संयम नहीं रखा तो अभ्यास केवल उदरपूर्ति तथा लौकिक वाद-विवाद का साधन होने के कारण व्यर्थ है। उसका यह भव और परभव दोनों बिगड़ जाते हैं। अभ्यास का उद्देश्य आत्म-परिणति (सुधारना) है। यदि यह प्राप्त नहीं हुआ तो अभ्यास, आगम तथा संयम पालन सब निष्फल हैं। जिसका परिणाम यह होगा कि तेरी जीवन नैया भव-समुद्र में डूब जायगी। थोड़े दिनों तक ही रहने वाले मान या यश के प्राप्ति की इच्छा आदि मनोविकारों की तृप्ति के लिये तू अपना बहुमूल्य समय शास्त्राभ्यास में मत नष्ट कर।

केवल अभ्यास करने वाला और अल्प-अभ्यासी
परन्तु साधक इन दोनों में श्रेष्ठ कौन ?

धन्याः केऽप्यनधीतिनोऽपि सदनुष्ठानेषु बद्धादरा,
दुःसाध्येषु परोपदेशलवतः श्रद्धान शुद्धाशयाः ।
केचित्त्वागमपाठिनोऽपि दधतस्तत्पुस्तकान् येऽलसाः
अत्रामुत्रहितेषु कर्मसु कथं ते भाविनः प्रेत्यह : ।७।

अर्थ :—कितने ही व्यक्ति शास्त्रों का अभ्यास न करने पर भी दुर्लभ आचार्यों के उपदेश से शुभ अनुष्ठान को अपनाते हैं और श्रद्धा पूर्वक शुद्ध आशय वाले होते हैं वे धन्य हैं। कितने ही पुरुष तो आगमशास्त्र के अभ्यासी होते हैं, पुस्तकों को अपने समीप रखते हैं, तब भी वे इस भव और परभव के हितकारी आचारणों में प्रमादी होते हैं। ऐसे पुरुष परलोक को बिगाड़ लेते हैं। विचार करना चाहिये कि उनकी क्या गति होगी? ॥७॥

विवेचन :—विद्या-प्राप्ति और मुक्ति-प्राप्ति में क्या सम्बन्ध है यह देखना है। विद्वान् को मोक्ष मिल ही जावे यह संदेहरहित नहीं है। हाँ सदाचरण या अभ्यास के साथ सरलता और सद्वर्तन होना मोक्ष दिलाने वाला है, इसमें संदेह नहीं। देव, गुरु और धर्म में शुद्ध श्रद्धा, शुद्ध वर्तन और सौम्य प्रकृति प्राप्त करने वाले बहुत से भद्रीक जीव संसार से तर गये हैं। विचार तथा वर्तन के शुद्ध होने से ज्ञानी पुरुष जल्दी भव के पार हो जाता है। अज्ञानी पुरुष करोड़ों वर्षों में जो कर्म-क्षय करता है वह ज्ञानी श्वासोच्छ्वास में पूरा कर सकता है। ज्ञानी पुरुष इतनी सुविधा होने पर भी यदि प्रमाद अथवा आडम्बर करता है या वाह-वाही की इच्छा रखता है- तो वह बहुत हानियाँ उठाता है। ज्ञानी के पास एक क्षण में कर्मों के क्षय करने की शक्ति होती है तो तीव्र कर्म-बन्धन और उत्तरदायित्व का खतरा भी उसके सिर पर होता है।

मुग्ध-बुद्धि व पंडित

धन्यः स मुग्धमतिरप्युदिताऽर्हदाज्ञा-
रागेण यः सृजति पुण्यमदुर्विकल्पः।
पाठेन किं व्यसनतोऽस्य तु दुर्विकल्पै-
र्यो दुःस्थितोऽत्र सदनुष्ठितिषु प्रमादी ॥८॥

अर्थ :—बुरे संकल्प न करने वाला और तीर्थंकर भगवान् की प्रेरित आज्ञाओं को राग से पालने वाला प्राणी अभ्यास करने में मुग्ध बुद्धिवाला हो तो वह भाग्यशाली है। जो प्राणी कुविचार किया करे पर शुभ क्रिया में प्रमादी हो तो उसके अभ्यास की आदत भी निष्फल है॥ ८॥

भावार्थ :—तीर्थंकर भगवान् ने जो कुछ कहा है वह सत्य है, बाकी सब मिथ्या है, ऐसी सामान्य बुद्धि वाला प्राणी भी संसार-समुद्र से तर जाता है। पर जिसके विचार शुद्ध न हों, जो सांसारिक कामों में फँसा रहता हो, जो राजकथा या विकथा में आसक्त हो और शुद्ध क्रिया करने में प्रमादी हो, ऐसा विद्वान् पुरुष भी संसार-समुद्र से तर नहीं सकता। अतः जीव को शुद्ध श्रद्धा के बिना कोई लाभ नहीं होता। मनुष्य जीवन बहुत थोड़ा है, बुद्धि भी बहुत थोड़ी है, और अनुभव करने में समय भी बहुत लगता है, इसलिये आप्त पुरुषों की परीक्षा कर उनके बताये मार्ग पर चलना चाहिये। आप्त पुरुषों की पहिचान उनकी वीतराग दशा, शुद्ध मार्ग-कथन, अपेक्षा की शुद्ध स्थापना, नयस्वरूप का विचार और स्याद्वाद-विचार-पद्धति द्वारा करनी चाहिये।

शास्त्राभ्यास—उपसंहार

अधीतिमात्रेण फलन्ति नागमाः, समीहितैर्जीव सुखैर्भवान्तरे।
स्वनुष्ठितैः किं तु तदीरितैः खरो, न यत्सिताया वहनश्रमात्सुखी॥६॥

अर्थ :—जिस प्रकार शक्कर के बोझ उठाने वाले गधे को शक्कर से कोई लाभ नहीं उसी प्रकार आगमों के केवल अभ्यास से भवान्तर में इच्छित सुख प्राप्त नहीं होता। परन्तु उसमें बताए हुए शुभ अनुष्ठानों के करने से आगम का फल होता है।

भावार्थ :—शास्त्राभ्यास सुख-प्राप्ति का एक साधन है। परन्तु शास्त्राभ्यास से सुख मिले यह आवश्यक नहीं है। आत्मिक सुख तो शास्त्रों में बताए हुए अनुष्ठानों के करने से प्राप्त होता है। जैसे गधा शक्कर का बोझ ढोता है परन्तु उसे शक्कर का स्वाद नहीं मिलता। इसी प्रकार ज्ञान भी उसका उपयोग में लाने पर ही लाभ देता है।

जो लोग भाषण देने में लोक दिखाऊ लटके करते हैं और श्रोताओं को रिझाते हैं, पर शास्त्रानुसार क्रिया नहीं करते, वे पत्थर की नाव के समान हैं, जिसमें वे आप भी डूबते हैं और साथ में बैठने वालों को भी ले डूबते हैं। इसलिये ज्ञान के साथ साथ क्रिया की भी आवश्यकता है "ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः"। प्रमादवश चौदह पूर्वधारी भी संसार

में भटकते हैं। (क्रिया से आशय केवल सामयिक तपस्या इत्यादि नहीं किन्तु शुद्धाचरण समझना चाहिये। यहाँ यह बात जानना चाहिये कि यदि विशेष अभ्यास नहीं भी किया हो परन्तु शुद्ध श्रद्धा से क्रिया की हो तब भी जीव को उच्च स्थिति प्राप्त होती है।

चतुर्गति के दुःख

शास्त्राभ्यास करने बाद जो जानने की बात यह है कि संसार में कहीं सुख नहीं। संसार में जीव को चार गतियों में घूमना पड़ता है। यहाँ दुःख ही दुःख है। ये गतियाँ नरक, तिर्यंच, मनुष्य तथा देव की हैं।

नरक गति के दुःख

दुर्गन्धतो यदणुतोऽपि पुरस्य मृत्यु-
रायूंषि सागरमितान्यनुपक्रमाणि ।
स्पर्शः खरः क्रकचतोऽतितमामितश्च,
दुःखावनन्तगुणितौ भृशशैत्यतापौ ॥१०॥

तीव्रा व्यथाः सुरकृता विविधाश्च यत्रा—
क्रन्दारवैः सततमभ्रभृतोऽप्यमुष्मात् ।
किं भाविनो न नरकात्कुमते बिभेषि,
यन्मोदसे क्षणसुखैर्विषयैः कषायी ॥११॥

अर्थ :—जिस नरक की दुर्गन्धि का एक सूक्ष्म भाग भी मनुष्य लोक के नगर के लोगों की मृत्यु का कारण होता है, जहाँ की आयुष्य सागरोपम में नपती है, जिसका स्पर्श भी करोत से ज्यादा तीखा है, जहाँ की सर्दी गर्मी का दुःख यहाँ के (मनुष्य लोक के) दुःख से अनन्तगुणा ज्यादा है, जहाँ देवता की दी हुई अनेक प्रकार की वेदना के दुःख से भरा रुदन से आकाश भरा है। इस प्रकार की नारकीय दशा तुझे भविष्य में मिलेगी। ऐसे विचारों से हे मूर्ख ! तू क्यों नहीं डरता ? और कषाय करके थोड़े सुख देने वाले विषयों का सेवन कर आनन्द मानता है।

विवेचन:—नरक की थोड़ी सी दुर्गन्धि से भी इस मनुष्य लोक के एक शहर का नाश हो सकता है। मनुष्य की आयु महामारी, शस्त्राघात आदि से नष्ट हो जाती है। परन्तु नारकीय जीवों की आयुष्य किसी भी कारण से नहीं टूटती। यदि शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर दिये जावें तब भी वे पारे की तरह एक हो जाते हैं, और उनकी उम्र सागरोपम गिनी जाती है। इतनी बड़ी आयु, पर उसमें दुःख ही दुःख और सुख तो एक क्षण भी नहीं। नरक की पृथ्वी भी करोती के समान तीक्ष्ण होती है और वहां की सर्दी तथा गर्मी भी असह्य होती है। वहां का ताप इतना अधिक होता है कि वहाँ के जीव को निकाल कर यहां अग्नि में डाल दिया जावे तो वह वहाँ की तुलना में शान्ति अनुभव करेगा। फिर परमाधरमी देव वेदना अलग देता है। इसके उपरान्त दूसरे देव भी जीवों से अपना वैर निकालते हैं, वे भी दुःख देते हैं। नारकी के जीव आपस में भी बहुत कट-कट कर मरते हैं। इन सब बातों को ध्यान में रख कर हे जीव! तू नरक से डर और क्रोध, अहंकार, कपट, लोभ और विषयों में आसक्त मत हो, क्योंकि ये ही सब नरक के कारण हैं।

तिर्यंच गति के दुःख

बन्धोऽनिशं वाहनताडनानि, क्षुत्तृड्दुरामातपशीतवाताः ।
निजान्य जातीयभयापमृत्युदुःखानि तिर्यक्ष्विति दुस्सहानि ॥१२॥

अर्थ :—निरन्तर बन्धन, भार वहन, अति क्षुधा, भूख, प्यास, रोग, सर्दी गर्मी अपनी और दूसरे जाति के जीवों से भय और कुमति आदि अनेक दुःख तिर्यंच गति में होते हैं ॥१२॥

भावार्थ :—पशु पक्षी आदि समस्त चलने फिरने वाले जीव तीर्यंच गति में हैं। इनको कितना दुःख है, वे रात दिन देखते हैं। वे हरदम बँधे रहते हैं, वे सर्दी गर्मी और पानी से अपना बचाव नहीं कर सकते।

देव गति के दुःख

सुधान्यदास्याभिभवाभ्यसूयाभियोऽन्तगर्भस्थिति दुर्गतीनाम् ।
एवं सुरेष्वप्यसुखानि नित्यं किं तत्सुखैर्वा परिणामदुःखैः ॥१३॥

अर्थ :—इन्द्रादि की निष्कारण सेवा करना, पराभव, मत्सर, अल्प अवधि, गर्भस्थिति और दुर्गति का भय, इस प्रकार के देवगति में निरंतर भय होते हैं। जिसके अन्त में दुःख है वह सुख क्या? ॥१३॥

भावार्थ :—

(१) मनुष्यलोक में मनुष्य उदरपूर्ति के लिये सेवा करता है पर देवलोक में बिना कारण इन्द्र की चाकरी करनी पड़ती है।

(२) अपने से बलवान देव पराये देव की स्त्री को ले जाते हैं।

(३) एक देव दूसरे देव की बड़ाई या सुख देखकर ईर्ष्या करता है।

(४) देवों की मृत्यु से ६ महीने पहले उनकी फूलमाला कुम्हला जाती है। इससे वे अपनी मृत्यु का समय निकट जान बहुत दुखी होते हैं।

(५) मरने के पीछे गर्भ में रहने का दुःख और अशुचि अवस्था में रहने तथा तिर्यंच गति में जाने का दुःख।

(६) देव गति छोड़कर नीच गति में जाने का दुःख।

इस प्रकार देव गति में भी सुख नहीं। वहाँ भी आपस में कलह चलता रहता है, इससे चिन्ता बनी रहती है। जिस सुख के अन्त में दुःख हो वह सुख नहीं।

मनुष्य गति के दुःख

सप्तभीत्यभिभवेष्ट विप्लवानिष्टयोगगदुःसुतादिभिः ।
स्याच्चिरं विरसता नृजन्मनः, पुण्यतः सरसतां तदानय ॥१४॥

अर्थ :—सात भय, अपमान, प्रिय वियोग, अप्रिय का संयोग, व्याधि, आज्ञा न मानने वाला पुत्र आदि के कारण से मनुष्य जन्म भी दुखी हो जाता है। इसलिये पुण्य से मनुष्य जन्म में मीठापन प्राप्त करो॥ १४॥

भावार्थ :—मनुष्य जन्म में सात भय बड़े हैं। (१) इस लोक का भय, (२) परलोक का भय, (३) चोरी का भय, (४) कोई अचानक

भय, (५), अजीविका का भय, (६) मृत्यु-भय, (७) और अपकीर्ति का भय। इसके अतिरिक्त दूसरे भी भय हैं। राजा की ओर से भय, पुत्र अथवा किसी प्रिय की मृत्यु का भय, स्त्री, धन, कीर्ति के नाश का भय आदि अनेक भय हैं। इस प्रकार अनेक भय हैं फिर भी मनुष्य इस संसार में मस्ती से जीवन बिताता है। मनुष्य को चेतना चाहिये। पुण्योपार्जन कर इन भयों को सुख में परिवर्तित करना चाहिये।

उपरोक्त स्थिति का परिणाम

इति चतुर्गतिदुःखततीः कृतिन्नतिभयास्त्वमनन्तमनेहसम् ।
हृदि विभाव्य जिनोक्तकृतान्तसः, कुरु तथा न यथा स्युरिमास्तव ॥१५॥

अर्थ :—इस प्रकार अनन्त समय से सहन करी हुई और अत्यन्त भय देने वाली इन चार गतियों के दुखों को केवली भगवान् के बताए हुए सिद्धान्त से हृदय में विचार कर हे विद्वानो! ऐसा करो जिससे ये पीड़ाएँ फिर न आवें॥ १५॥

भावार्थ :—सांसारिक पीड़ा जानकर विचार कर, उनका परिणाम ऐसा है यह सोचकर ऐसा पुरुषार्थ कर जिससे भविष्य में ऐसी पीड़ा न हो। सब प्राणी कल्पित सुख के पीछे दौड़ते हैं। पर सिद्धान्त के अनुसार वास्तविक रीति से सोचने पर ज्ञान होता है। इस संसार में सुख है ही नहीं। इसलिये जीव का कर्तव्य है कि वह शास्त्र द्वारा संसार की सब गतियों में कैसे कैसे दुःख होते हैं जाने और चतुर्गति दुःख नहीं होवे ऐसा कार्य करे। ये सब बातें शास्त्र से ज्ञात होती हैं।

भावार्थ :—चारों गतियों में भी सुख नहीं है यह हमने देखा। यह संसार दुःखमय है; जो कुछ भी सुख है, वह माना हुआ और क्षणिक है। ये सब बातें शास्त्राभ्यास से जानो। और इन सब बातों को सोचकर ऐसा कार्य करना चाहिये जिससे ये दुःख फिर न हों।

सब अधिकार का उपसंहार

आत्मन् परस्त्वमसि साहसिकः श्रुताक्षै-
र्यद्भाविनं चिरचतुर्गतिदुःखराशिम् ।
पश्यन्नपीह न बिभेषि ततो न तस्य,
विच्छित्तये च यतसे विपरीतकारी ॥ १६ ॥

अर्थ :—हे आत्मा ! तू तो बड़ा जबरदस्त साहसिक है, क्योंकि भविष्य में होने वाली चारों गतियों के दुःख को ज्ञान-चक्षु से देखकर भी उनसे नहीं डरता, बल्कि उसके विपरीत आचरण करता है, और दुःख-नाश का कोई उपाय नहीं करता ॥ १६ ॥

भावार्थ : - तूने चारों गतियों में दुःख का अनुभव किया है, भोगा है, सुना है, और ज्ञान-चक्षुओं से देखा है। इतना होने पर भी उनका अन्त करने का तू प्रयत्न नहीं करता तो तेरी समझदारी व्यर्थ है।

× × × ×

इस सबका सार यह है कि शास्त्रों को पढ़ना चाहिये और तदनुसार वर्तना चाहिये। जब मनुष्य किसी वस्तु को देखता है तो उसे विषय प्रतिभास (——) ज्ञान (——) होता है। अर्थात् उसे वस्तु का स्वरूप दीखता है, और उसके गुणों को जानता है। परन्तु जब तक तत्त्वसंवेदना ज्ञान न हो और उसका बताए हुए उपाय के अनुसार वर्तन न हो और क्या हेय, ज्ञेय और उपादेय है यह नहीं जानता और तदनुसार क्या त्याज्य है और क्या आदरणीय यह नहीं जानता तब तक सब व्यर्थ है, और जीव भी उत्कर्ष को प्राप्त नहीं होता। ज्ञान प्राप्त कर चारों गतियों का वास्तविक रूप क्या है यह जानना तथा इस विषय पर विचार करना मनुष्य का प्रथम कर्त्तव्य है।

इस संसार की विषय वासना तथा इच्छाओं को कम करो, इन्द्रियों को वश में रखो, मन को वश में रखो, यह सब जैन सिद्धान्त का सार है। इस संसार का सब सुख माना हुआ है, वास्तविक सुख तो है ही नहीं॥

—:०:—

नवमाधिकार

मनोनिग्रह

अब तक के अधिकारों में, समता, इन्द्रियों पर अंकुश रखना, प्रमाद, कषाय-त्याग करने का जो उपदेश दिया है उन सब का मतलब मन पर अंकुश रखना है। जो भी धार्मिक क्रिया की जावे पर मन पर अंकुश न हो तो वह अल्प फल देती है। इसी प्रकार यदि पाप कार्य भी किया जावे पर मन पर अंकुश हो तो अल्प दोष लगता है। इस से मन पर अंकुश रखने की महत्ता का ज्ञान होता है॥

मनधीवर का विश्वास मत करो

कुकर्मजालैः कुविकल्पसूत्रजैर्निबध्य गाढं नरकाग्निभिश्चिरम्।
विसारवत् पक्ष्यति जीव! हे मनः कैवर्तकस्त्वामिति मास्य विश्वसीः॥१॥

जीव को मन—धीवर फँसा लेता है। मन के कुविकल्प को देखना हो तो प्रतिक्रमण के समय या गुरु महाराज के व्याख्यान के समय देखना चाहिये कि वह कहाँ कहाँ चला जाता है। इसलिये मन का विश्वास नहीं करना। मन का विश्वास करने वाले को नारकीय दुःख भोगने पड़ते हैं और इस लोक में भी उसकी कार्य-सिद्धि नहीं होती।

मन को मित्र समान अनुकूल होने को प्रार्थना

चेतोऽर्थये मयि चिरत्नसख प्रसीद,
किं दुर्विकल्पनिकरैः क्षिपसे भवे माम्।
बद्धोऽञ्जलिः कुरु कृपां भज सद्विकल्पान्;
मैत्रीं कृतार्थय यतो नरकाद्बिभेमि ॥२॥

अर्थ :—हे मन ! तू मेरा पुराना मित्र है। मैं तुझ से प्रार्थना करता हूँ कि तू मुझ पर कृपा कर और मुझे बुरे संकल्प करा कर संसार चक्र में मत डाल। मैं तुझसे हाथ जोड़ कर कहता हूँ कि मुझ पर कृपा कर, मुझ में अच्छे विचार ला और अपनी पुरानी मित्रता सफल कर। कारण कि मैं नरक से डरता हूँ ॥२॥

भावार्थ :—मन का विश्वास तो नहीं करना चाहिये यह तो ठीक है, फिर भी जीव मन को समझाता है और हाथ जोड़ कर कहता है कि हम दोनों तो पुराने दोस्त हैं (जब से संज्ञी पंचेन्द्रिय योनि में जीव पैदा होता है तब से उसके साथ मन होता है), फिर तू खराब-संकल्प कराकर मुझे संसार में क्यों घुमाता है ? कृपा कर बुरे संकल्प बंद कर और नरक से बचा, मुझे नरक से बहुत भय लगता है।

मन पर अंकुश रखने का उपदेश

स्वर्गापवर्गौ नरकं तथान्तर्मुहूर्तमात्रेण वशावशं यत्।
ददाति जन्तोः सततं प्रयत्नाद्वशं तदन्तःकरणं कुरुष्व ॥३॥

अर्थ :—वश में किया हुआ अथवा बेवस मन क्षण भर में जीव को स्वर्ग, मोक्ष अथवा नरक में भेज देता है। इसलिये मन को जल्दी से वश में करो ॥३॥

भावार्थ :—मन का विश्वास नहीं करना चाहिये, क्योंकि यह दुर्विकल्प बहुत कराता है। इसलिये इस पर अंकुश रखना चाहिये। अंकुश में रखा हुआ मन मोक्ष सुख अथवा देव-सुख आसानी से दिला सकता है। बिना अंकुश के मन की प्रवृत्तियों से दुःख पर दुःख आते हैं ॥४॥

दृष्टान्त :—राजर्षि प्रसन्नचन्द ने अपने बालक पुत्र को मन्त्रियों के विश्वास पर राजगद्दी पर बैठा कर दीक्षा ले ली और घोर तपस्या में लीन हो गये। तपस्या करते हुए उन्होंने सुना कि मन्त्रियों ने धोखा देकर राज्य ले लिया। इस प्रकार मन की प्रबल प्रेरणा से अपने पुत्र प्रेम के कारण मन्त्रियों से मन ही मन युद्ध करने लगे। और ज्योंही मन्त्रियों को मारने को हाथ उठाया तो सिर पर मुकट नहीं देख उनको ध्यान आया कि मैं तो साधु हूँ मुझे युद्ध से क्या काम। इतना ध्यान आते ही वे चेते और मन को फिर वश में किया और पल भर में सब कर्मों का क्षय कर केवलज्ञान प्राप्त किया। जो कार्य असंख्य भव में नहीं हो सकता वही मन को वश में कर एक क्षण में कर लिया। कहा है "मन एव मनुष्याणां कारणं बंध मोक्षयोः" अर्थात् मन ही जीव को अनन्त भव में घुमाने वाला अथवा मोक्ष दिलाने वाला है। इसी प्रकार एक कहानी तन्दुल मत्स्य की भी आती है। एक छोटा सा तन्दुल मत्स्य एक मगरमच्छ की आँख की पपड़ी के अन्दर बैठा देखता था कि मगरमच्छ मछलियों का भक्षण करने के लिये मुँह में पानी लेता और जब मुँह बंद करता तो छोटी मछलियाँ मगरमच्छ के दाँतों से बाहर निकल जातीं। तब वह आँखों की पलकों में बैठा तन्दुल मत्स्य मन में कहता कि यदि मैं इस मगर के बराबर मोटा होता तो मैं मुँह में से एक मछली को भी बच कर नहीं जाने देता। वह तन्दुल मत्स्य इन्हीं भावनाओं से भर कर सातवें नरक में ३३ सागरोपम की आयु वाला नारक हुआ। इसी प्रकार जीरण सेठ ने भगवान् महावीर की पारणा कराने की भावना भाई तो १२ वाँ देवलोक प्राप्त किया। यदि थोड़ी देर में दुन्दुभी नहीं बजती तो वह अपनी बढ़ती भावना से मोक्ष प्राप्त करलेता।

ऊपर के तीन दृष्टान्तों से ज्ञात होगा कि भावना से मनुष्य नरक, स्वर्ग अथवा मोक्ष प्राप्त करता है। इसलिये जिसे अपना भव सुधारना हो वह अपना मन वश में करे।

संसार भ्रमण का हेतु मन

सुखाय दुःखाय च नैव देवा, न चापि कालः सुहृदोऽरयो वा।
भवेत्परं मानसमेव जन्तोः संसारचक्रभ्रमणैकहेतुः ॥४॥

अर्थ :—देवता मनुष्य को सुख या दुःख नहीं देते। इसी प्रकार काल, मित्र या शत्रु भी सुख या दुःख नहीं देते। मनुष्य को संसार-चक्र में घुमाने वाला एकमात्र मन है ॥४॥

भावार्थ :—सुख दुःख तो प्राणी को होता ही रहता है। तब हम कहते हैं कि किसी देव ने कोप किया है। अथवा कहते हैं कि अपने अधिष्ठापक देव ने दुःख-सुख दिया है। या कहते हैं कि दिन-मान खराब है। अथवा अमुक मित्र या शत्रु ने हमारे साथ भला या बुरा किया। पर वास्तव में यह सब कल्पनामात्र है। शास्त्रकार कहते हैं कि—

"सुख दुःख कारण जीव ने, कोई अवर न होय
कर्म आ प जे आचर्या, भोगवीये सोय"

ये सब सुख-दुःख कर्माधीन हैं। सुख-दुःख देने वाला कोई दूसरा नहीं। यह संसार एक चक्र के समान है जिसे एक बार जोर से धक्का दे दिया तो फिर चलता ही रहता है। इसे रोकना बड़ा ही मुश्किल है। जब मन को वश में करते हैं तब ही बड़ी मुश्किल से रुकता है। एक बार मन अच्छी तरह वश में आया नहीं कि मोक्ष सरल हो जाता है।

मनोनिग्रह और यम नियम

वशं मनो यस्य समाहितं स्यात्, किं तस्य कार्यं नियमैर्यमैश्च।
हतं मनो यस्य च दुर्विकल्पैः, किं तस्य कार्यं नियमैर्यमैश्च ॥५॥

यदि प्राणी का मन समाधि में हो या अपने वश में हो तो उसे

यम नियम की क्या जरूरत और जिसका मन दुर्विकल्पों से भरा हो तो उसे यम नियम से क्या मतलब ? ॥५॥

विवेचन :—जिसका मन दुःख में या सुख में एकसा रहता है और विचलित नहीं होता उसे यम-नियम की कोई जरूरत नहीं। ऐसे मन वाले पुरुष महात्मा होते हैं। उनका मन स्वभाव से ही स्थिर रहता है। जिनके मन में संकल्प विकल्प उठते रहते हैं उनको यम-नियम से कोई लाभ नहीं। इसलिये यम-नियम से लाभ उठाने वालों को अपने मन को वश में करना चाहिये।

टीकाकार ने नियम इस प्रकार बताये हैं। (१) काया और मन की शुद्धि-शौच, (२) संतोष, (३) स्वाध्याय, (४) तप, (५) देवता प्रणिधान। यम भी पाँच हैं (१) अहिंसा (२) [सत्य] सूनृत, (३) अस्तेय, (४) ब्रह्मचर्य, (५) अकिंचनता-अपरिग्रह।

बिना दान आदि धर्म के मनोनिग्रह निष्फल

दानश्रुतध्यान तपोऽर्चनादि, वृथा मनोनिग्रहमन्तरेण।
कषाय-चिन्ताकुलतोज्झितस्य, परो हि योगो मनसो वशत्वम् ॥६॥

अर्थ :—मनोनिग्रह बिना दान, ज्ञान, ध्यान, तप, पूजा आदि सब साधन व्यर्थ हैं। कषाय से होने वाली चिन्ता तथा आकुल-व्याकुलता रहित ऐसे प्राणी के लिये मन वश करना ये महायोग है ॥६॥

विवेचन :—दान पाँच प्रकार के हैं : किसी जीव को मरने से बचाना अभयदान, योग्य पात्र देखकर उचित वस्तु देना सुपात्रदान, दीन दुखी को देखकर दान देना अनुकम्पा दान, सगे सम्बन्धी को आवश्यकतानुसार देना उचित दान, अपनी इज्जत के लिये दान कीर्ति दान; इनमें प्रथम दो दान उत्तम हैं।

ज्ञान अर्थात् शास्त्र का पढ़ना पढ़ाना, श्रवण मनन आदि ;

ध्यान अर्थात् धर्म ध्यान, शुक्ल ध्यान आदि ;

तप अर्थात् कर्मों की निर्जरा करने वाले तप ;

पूजा अर्थात् तीन, पाँच, आठ, सत्तर, इक्कीस, एक सौ आठ प्रकार की द्रव्य पूजा—

यदि मन वश में नहीं तो ये सब अनुष्ठान तत्परता पूर्वक किए जाने पर भी निकाम हैं। अतएव मन को वश में रखो।

जिसने मन को वश में किया उसने सब कुछ किया

जपो न मुक्त्यै न तपो द्विभेदं, न संयमो नापि दमो न मौनम्।
न साधनाद्यं पवनादिकस्य किं त्वेकमन्तःकरणं सुदान्तम् ॥७॥

अर्थ :—जप करने से मोक्ष नहीं मिलता, न दो प्रकार का तप करने से। उसी प्रकार संयम, दम, मौनधारण अथवा पवनादिक की साधना से भी मोक्ष नहीं मिलता, परन्तु अच्छी तरह से वश में किया हुआ अकेला मन मोक्ष दे सकता है ॥७॥

विवेचन :—ऊपर के श्लोक का अर्थ स्पष्ट है। ओंकार या नवकार आदि का जप करो, उपवास करो, ध्यान करो, कोई भी धार्मिक क्रिया करो, परन्तु जब तक मन को वश में नहीं किया तब तक ये सब क्रियाएँ निरर्थक हैं। मन को वश में करना बहुत कठिन है। जिसने मन को साध लिया उसने सब कुछ साध लिया। मोक्ष साधन भी इससे सरल हो जाता है।

जो मन के वश हुआ वही डूबा

लब्ध्वापि धर्मं सकलं जिनोदितं, सुदुर्लभं पोतनिभं विहाय च।
मनः पिशाचग्रहिलीकृतः पतन्, भवाम्बुधौ नायतिदृग् जडो जनः ॥८॥

अर्थ :—संसार-समुद्र में भटकता हुआ प्राणी बड़ी कठिनता से तीर्थंकर भाषित धर्म रूपी जहाज के प्राप्त होने पर भी यदि मन पिशाच के आधीन होकर जहाज को छोड़ देता है और संसार-समुद्र में पड़ जाता है, वह मूर्ख दूरदर्शी नहीं ॥८॥

विवेचन :—जिस प्रकार कोई मनुष्य समुद्र की बीच धारा में बहता हुआ जहाज का अवलंब छोड़ दे तो वह समुद्र पार नहीं कर सकता। उसी प्रकार संसार-समुद्र को पार कर मोक्ष जाने का

अभिलाषी मनुष्य-धर्म रूपी नौका का सहारा लेता है। परन्तु उसी समय मन पिशाच जीव को बहकाकर प्रमाद-मदिरा पिला कर अपने वश में कर लेता है, और उसे ऐसा विचार शून्य कर देता है कि उसे कार्य-अकार्य का ध्यान नहीं रहता, वह आत्मस्वरूप को बिल्कुल भूल जाता है। धर्मभ्रष्ट होकर समुद्र में जहाज छोड़ने वाले की तरह वह भव समुद्र में डूब जाता है और ८४ लाख जीव योनियों में भ्रमण करता हुआ अनेक दुःख पाता है। अतएव बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिये कि मन पर काबू रखे।

परवश मन वाले को तीन शत्रुओं से भय

सुदुर्जयं ही रिपवत्यदो मनो, रिपुं करोत्येव च वाकूतनू अपि।
त्रिभिर्हतस्तद्रिपुभिः करोतु किं, पदीभवन् दर्विपदां पदे पदे ॥६॥

अर्थ :—बड़ी मुश्किल से जीता जावे ऐसा यह मन शत्रु जैसा आचरण करता है। कारण यह वचन और काया को भी दुश्मन बना देता है। इस प्रकार इन तीन शत्रुओं से मारा हुआ तू जगह-जगह विपत्ति उठाकर क्या कर सकता है।

विवेचन :—मन बड़ी कठिनाई से जीता जाने वाला शत्रु है। यह कुविचार पैदा कर वचन और काया को भी शत्रु बना देता है। इससे वचन पर अंकुश नहीं रहता और नीति धर्म की मर्यादा का उल्लंघन कराकर काया से भी पाप करा देता है। इस प्रकार मन रूपी शत्रु के वश में होने से तीन शत्रु दुःख देते हैं। वह एक शराबी की तरह अनेक बुरे आचरण करता है। जिसके फलस्वरूप संसार भ्रमण करना पड़ता है। वचन और काया मन के आधीन होने से उसी के कहने पर नाचता है और शत्रु की तरह व्यवहार करता है। इसलिये मन को काबू में रखना चाहिये और इसको काबू रखने से वचन और काया आप ही वश में हो जाते हैं॥

मन से प्रार्थना

रे चित्त वैरि तव किं नु मयापराद्धं,
यद्दुर्गतौ क्षिपसि मां कुविकल्पजालैः।

जानासि मामयमपास्य शिवेऽस्ति गन्ता,
तत्किं न सन्ति तव वासपदं ह्यसंख्याः ॥१०॥

अर्थ :—हे वैरी चित्त ! मैंने तेरा क्या बिगाड़ा है जो तू मुझे कुविकल्प-जाल में फँसाकर दुर्गति में डालता है। क्या तेरे मन में ऐसी बात आई है कि यह जीव तुझे छोड़ कर मोक्ष में चला जायगा। पर जरा सोच, तेरे रहने के लिए तो दूसरे भी असंख्य स्थान हैं।

भावार्थ :—जब जीव शान्त अवस्था में हो और अनुकूल संयोग हो तो अपने पहले किए हुए कार्यों का विचार करता है। और बहुत पश्चात्ताप करता है ऐसी स्थिति प्रतिक्रमण करते समय होनी चाहिये। उस समय यह जीव भविष्य में गलती न करने की प्रतिज्ञा करता है। ऐसी शान्त अवस्था प्राप्त होने से जीव उच्च गुणस्थान पर चढ़ता है। और ज्यों-ज्यों आगे चढ़ता जाता है उसके विचार शुद्ध होते जाते हैं। इसलिए जीव अपने मन से कहता है कि हे मित्र ! मेरी मित्रता छूटने की क्यों चिंता करता है ? तुझे मेरे जैसे असंख्य मित्र मिलेंगे।

पर वश मन वाले का भविष्य

पूतिश्रुतिः श्वेव रतेर्विदूरे, कुष्ठीव संपत्सुदृशामनर्हः।
श्वपाकवत्सद्गतिमन्दिरेषु, नार्हेत्प्रवेशं कुमनोहतोऽङ्गी ॥११॥

अर्थ :—जिस प्राणी का मन खराब स्थिति में होने से दुःख पाया करता है वह प्राणी कीड़ों से भरे हुए कान वाले कुत्ते की तरह बहुत दुःख पाता है। अथवा कोढ़ी की तरह लक्ष्मी सुन्दरी से विवाह करने के अयोग्य हो जाता है। वह चांडाल की तरह शुभगति रूपी मन्दिर में प्रवेश करने योग्य नहीं रहता।

विवेचन :—जिस प्रकार कीड़ों से भरे कान वाले कुत्ते को कहीं भी चैन नहीं पड़ता। उसी प्रकार अस्थिर मन वाले मनुष्य को कहीं भी सुख नहीं मिलता। अस्थिर मन वाले व्यक्ति को उसके हित की भी बात यदि कही जावे तो वह समझेगा नहीं उल्टा वह क्रोध करेगा। यदि उसपर कोई दुःख आवेगा तो वह उलटी बात सोचेगा और अशान्त चित्त के

कारण अनेक कर्म बाँधेगा। शान्त चित्त वाला पुरुष घबरायेगा नहीं। उसपर कोई भी आपत्ति आवेगी तो वह उसको कर्माधीन समझ शान्त चित्त से सहेगा। एक ओर तो वह शान्त चित्त से सहन कर निर्जरा करेगा और दूसरे वह नये कर्म नहीं बाँधेगा। इस प्रकार वह इस लोक और परलोक दोनों को सुधारेगा।

मनोनिग्रह विना किये तप-जप में धर्म नहीं

तपोजपाद्याः स्वफलाय धर्मा, न दुर्विकल्पैर्हतचेतसः स्युः ।
तत्खाद्यपेयैः सुभृतेऽपि गेहे, क्षुधातृषाभ्यां म्रियते स्वदोषात् ॥१२॥

अर्थ :—जिस प्राणी का चित्त बुरे विचारों से व्याप्त है उसे जप, तप आदि धर्म कार्य भी आत्मिक फल नहीं देते। इस प्रकार का प्राणी खाने पीने की वस्तुओं से भरपूर घर में भी अपने दोष से भूख और प्यास से मरने वाले के समान है॥१२॥

भावार्थ :—जब तक मन स्थिर नहीं होता तब तक कठोर से कठोर तपस्या भी केवल काया क्लेश है और निष्फल है—ऐसा मुनि सुन्दरजी महाराज कहते हैं। यही बात आनन्दघनजी महाराज भी कहते हैं। पर संसारी जीव को जो पैसा-प्राप्ति ही में धर्म मानता है, यह बात देर से समझ में आवेगी। शास्त्रकार कहते हैं कि इसमें न धर्म है और न सुख। सुख तो आत्मरमणता और चित्त-शान्ति में है। जब तक यह स्थिति नहीं बनती तब तक इस जीव की स्थिति अन्न-धन से भरपूर घर में भी अपने दोष से भूखों मरने के समान है।

मन के साथ पुण्यपाप का सम्बन्ध

अकृच्छ्रसाध्यं मनसो वशीकृतात्,
परं च पुण्यं, न तु यस्य तद्वशम् ।
स वञ्चितः पुण्यचयैस्तदुद्भवैः,
फलैश्च ही ही हतकः करोतु किम् ॥१३॥

अर्थ :—वश में किये हुए मन से पुरुष महान् और उत्तम प्रकार के पुण्य

बिना किसी कष्ट के प्राप्त कर सकता है। और जिस पुरुष का मन वश में नहीं है वह प्राणी पुण्य की राशि खो बैठता है और उससे होने वाले फल भी नष्ट हो जाते हैं (अर्थात् पुण्य नहीं बँधता)! अफ़सोस (जिसके मन वश नहीं) ऐसा हतभागी क्या करे? ॥१३॥

भावार्थ :—जिसका मन वश में हो उसके लिये इसी लोक में इन्द्रासन है और मोक्ष भी सन्मुख है। अर्थात् जिसका मन वश में है उसके लिये कुछ भी असंभव नहीं और जिसका मन वश में नहीं या जिसका मन अस्थिर है उसके मन में हरदम संकल्प विकल्प उठा करते हैं, उसका कोई भी काम सिद्ध नहीं होता।

यशोविजयजी महाराज ने ज्ञानसार में कहा है :—

अन्तर्गतमहाशल्यमस्थैर्यं यदि नोद्धृतम्।
क्रियौषधस्य को दोषस्तदा गुणमयच्छतः॥

अस्थिरता रूपी हृदय का काँटा हृदय से नहीं निकाला जाय तो क्रियारूपी औषध गुण नहीं करती, इसमें औषध का क्या दोष? इसलिये मन से अस्थिरता निकाल देनी चाहिये। यह अस्थिरता जीव को बहुत फँसाती है। मन को शुभ योग में लगाने से स्वर्गप्राप्ति होती है और पूर्ण निरोध करने से मोक्ष मिलता है। और मन को निरंकुश छोड़ देने से अधःपतन होता है।

इस प्रकार अस्थिर मन वाले को पुण्य नहीं होता और पाप का भार वहन करने के कारण वह दुःख पाता है। जीव का एक बार पतन होने पर फिर सँभलना कठिन हो जाता है।

विद्वान् भी मनोनिग्रह विना नरक में जाता है

अकारणं यस्य च दुर्विकल्पैर्हतं मनः शास्त्रविदोऽपि नित्यम्।
घोरैरघैर्निश्चितनारकायुर्मृत्यौ प्रयाता नरके स नूनम् ॥१४॥

अर्थ :—जिस प्राणी का मन निरर्थक दुर्विकल्पों से निरन्तर भरा रहता है वह प्राणी कितना ही विद्वान् हो भयंकर पापों के कारण

नारकी का निकाचित आयुष्य कर्म बाँधता है और मरने पर अवश्य नरक में जायगा।

विवेचन :—किसी समय शास्त्र का जानकार भी भयंकर गलती कर बैठता है जो एक अज्ञानी भी नहीं करता। लोग कहते हैं कि वह तो ज्ञानी है, वह "आलोयणा" कर पाप मुक्त हो जायगा—यह धारणा गलत है। ज्ञानी [शास्त्र का जानकार] पाप को पाप मानता है और पाप करके केवल मुँह से आलोयणा करे और दूसरे दिन वही पाप उतनी ही प्रबलता से करे तो वह अज्ञानी की तुलना में ज्यादा पाप का भागी होता है। क्योंकि विद्वान् दूसरों के लिये आदर्श रूप है, जिसका दूसरे पुरुष अनुकरण करते हैं।

पाप-बंध या पुण्य बंध जिस समय बँधता है उस समय प्रदेशबन्ध के साथ साथ रसबन्ध भी पड़ता है अर्थात् जो बन्ध पड़ता है उसके शुभ अशुभ होने के साथ तीव्रता अथवा मंदता (अर्थात् चिकनास Intensity) कितनी है यह भी निश्चित हो जाती है। एकसा ही पाप करने वाले दो व्यक्तियों के कर्म की तीव्रता उनके भावों के अनुसार होती है। एक विद्वान् ज्ञानी निरपेक्ष भाव से जो पाप करता है वह जितना चिकास से पाप कार्य करता है उतना चिकास सापेक्ष वृत्ति वाले अल्पज्ञ या अज्ञ को नहीं होता। अज्ञानी तो पाप अज्ञानवश करता है इसलिये पाप में इतना चिकास नहीं होता जितना कि जानकार ज्ञानी को होता है।

ज्ञान का सदुपयोग जिस प्रकार कार्य-सिद्धि करता है उसी प्रकार उसका दुरुपयोग बहुत हानिकर होता है। मनुष्य सांसारिक कार्यों में अकारण ही संकल्प विकल्प करता है। इसी प्रकार व्यापारी अपने व्यापार में तथा दूसरे लोग अपने-अपने कार्य में जानते अजानते अनेक कर्म बंधन कर लेते हैं।

अर्थ :—मन की समाधि (एकाग्रता-रागद्वेष रहित दशा) योग का कारण है। योग तप का उत्कृष्ट साधन है, और तप शिवसुख रूपी वेल (लता) की जड़ है। इसलिये किसी भी प्रकार से मन की समाधि रखो ॥ १५ ॥

विवेचन :—यह आपने देखा कि मनोनिग्रह से अशुभ कर्म रुकते हैं और पुण्य-बंध होता है। इतना ही नहीं, मोक्ष भी प्राप्त हो जाता है। परन्तु मनोनिग्रह के लिये पहले मन का कचरा जैसे द्वेष, खेद, विकल्प, अस्थिरता आदि को निकाल देना चाहिये। इतना करने के उपरान्त समता प्राप्त होती है और स्थिति—स्थापकता आती है अर्थात् मन पर अधिकार हो जाता है। इस तरह से योग की प्राप्ति होती है। योग से इन्द्रियों पर अंकुश आता है। यही तप है और तप से कर्म-निर्जरा और अन्त में मोक्ष होता है। इससे स्पष्ट है कि मन की समाधि कितनी आवश्यक है।

मनोनिग्रह के उपाय

स्वाध्याययोगैश्चरणक्रियासु, व्यापारणैर्द्वादशभावनाभिः ।
सुधीस्त्रियोगी सदसत्प्रवृत्तिफलोपयोगैश्च मनो निरुन्ध्यात् ॥१६॥

अर्थ :—सुज्ञ प्राणी स्वाध्याय, योग-वहन, चारित्र क्रिया, बारह भावनाएँ तथा मन, वचन और काया की शुभ अशुभ प्रवृत्ति के फल का चिन्तन कर अपने मन को वश में करते हैं ॥१६॥

भावार्थ :—मनोनिग्रह का प्रथम उपाय है स्वाध्याय। यह पाँच प्रकार का है। बाँचना (पढ़ना), पृच्छना (प्रश्न करना) परावर्तना (पुनरावर्तन-याद करना); अनुप्रेक्षा (मन में विचारना), धर्म कथा (धर्म उपदेश) और योग अर्थात् मूल सूत्र के अभ्यास की योग्यता प्राप्त करने की क्रिया। दूसरा उपाय है तपस्या। क्रिया-मार्ग अर्थात् श्रावकों के करने योग्य क्रिया, जैसे देव-पूजा, सामयिक, पौषध आदि करना तथा साधु के लिए आहार-विहार, प्रतिलेखन, कायोत्सर्ग आदि शुभ क्रियाएँ। इन क्रियाओं से विशेष लाभ यह है कि मन हमेशा शुभ कार्यों में लगा रहता है। उसे उथल पुथल या अकाय करने को अवसर

नहीं मिलता। तीसरा उपाय है बारह भावना भाना। ये १२ भावनाएँ इस प्रकार हैं:— १. अनित्य भावना (संसार नाशवन्त है) २. अशरण भावना (कोई बचाने वाला नहीं है), ३. संसार भावना (संसार विचित्र है) ४. एकत्व भावना (अकेला आया और अकेला ही जायगा), ५. अन्यत्व (यह जीव सबसे अलग है), ६. अशुचि भावना (यह शरीर अशुद्ध पदार्थों का बना है), ७. आश्रव भावना (मिथ्यात्व, अविरति और कषाय आदि के योग से कर्मबन्ध होता है, ८. संवर भावना (मन को वश में रखने से अर्थात् समता रखने से कर्म बन्धन रुकता है) ९. निर्जरा (तपस्या से कर्म क्षीण होते हैं), १०. लोकस्वरूप (चौदह राजलोक के स्वरूप का चिन्तन करना, ११. बोधि (सम्यक्त्व पाना बड़ा दुर्लभ है), १२. धर्म (अरिहंत भगवान् जैसे निरागी कहने वाले बहुत कम हैं)। इस प्रकार की बारह भावनाएँ हरदम भानी चाहियें। चौथा उपाय आत्म-अवलोकन करना अर्थात् यह विचारना कि शुभ प्रवृत्ति का फल शुभ और अशुभ प्रवृत्ति का फल अशुभ होता है।

ऊपर बताए हुए मनोनिग्रह के चार उपाय बड़े मनन करने योग्य हैं। इससे मन वश में रहता है और पुण्य प्राप्त होता है। जीव का नरक में जाना रुक जाना है और देवलोक तथा मोक्ष की प्राप्ति होती है।

मनोनिग्रह में भावना का माहात्म्य

भावनापरिणामेषु, सिंहेष्विव मनोवने।
सदा जाग्रत्सु दुर्ध्यान–सूकरा न विशन्त्यपि ॥१७॥

है कि जब एक ही ध्यान में मन मग्न हो जाता है तो वह दूसरी तरफ जाता ही नहीं। मन्दिर में देव-दर्शन के समय या पूजा-भक्ति में या किसी उत्तम पुस्तक के पढ़ने में मन एकाग्र हो जाता है तो उसे उसके आस पास क्या हो रहा है इसका कुछ भी ध्यान नहीं आता। इसी प्रकार बारह भावनाएँ भाते-भाते इतना अभ्यास हो जाता है कि पुरुष संसार की सब बातें भूल जाता है। ऐसी अवस्था में उसे एक अद्भुत आनन्द का अनुभव होता है। उसके सामने सब सांसारिक सुख तुच्छ लगते हैं।

× × × ×

मन को वश में करना मुश्किल है परन्तु असम्भव नहीं। शुरु में मन से संकल्प एकदम दूर करना मुश्किल है। पर अभ्यास करने से कार्य-सिद्धि हो सकती है। अभ्यास करते समय पहले बुरे विचार आते हैं, उनको दबाना चाहिये। एक बार दबाने से संकल्प दूसरी बार ज्यादा जोर से आते हैं फिर और जोर से दबाने से धीरे-धीरे वश में होता जाता है। इस प्रकार अभ्यास करने से मन पूर्णरूप से वश में हो जाता है।

—:०:—

दशमाधिकार

वैराग्योपदेश

मृत्यु पर विजय और विचार

किं जीव माद्यसि हसस्ययमीहसेऽर्थान्
कामांश्च खेलसि तथा कुतुकैरशङ्कः ।
चिक्षिप्सु घोरनरकावटकोटरे त्वा-
मभ्यापतन्नतु विभावय मृत्युरक्षः ॥१॥

आलम्बनं तव लवादिकुठारघाता-
श्छिन्दन्ति जीवितनरुं नहि यावदात्मन् ।
तावद्यतस्व परिणामहिताय तस्मि-
श्छिन्ने हि कः क न कथं भवतादयतन्तः ॥२॥

कुतूहल करता है, विषयभोग की इच्छा करता है और समझता है कि तेरे बराबर इस पृथ्वी पर कोई नहीं है। ऐसा समझकर तू अभिमान करता है, पर क्या तुझे यह भी मालूम है कि तेरी स्थिति कितनी है? तू अपनी वास्तविक स्थिति पर क्यों नहीं विचार करता? बड़े दुःख की बात है कि तेरे सिर पर मृत्यु मँडरा रही है और वह तुझे नरक में डालने की व्यवस्था कर रही है। इसलिये तू उस शैतान से डर, निःशंक होकर घूमना बुद्धिमत्ता नहीं, तू अपने शत्रु को पहिचान और बचने का प्रयत्न कर।

जीव को इस प्रकार चेताने का दूसरा प्रयोजन यह है कि यह शरीर ही सब धार्मिक कार्य कर सकता है। यह शरीर क्षण प्रति क्षण में क्षीण होता जाता है। एक झोंका आते ही मृत्यु हो जायगी। इसलिए इस शरीर से जो साधना (आत्म हित) हो सकती है सो करलो। मनुष्य प्रायः तात्कालिक सुख देखता है, पर उसका परिणाम क्या होगा यह वह नहीं देखता। जिस प्रकार पाँच मिनट के सुख के लिये एक स्त्री पर बलात्कार कर १० वर्ष की जेल भुगतना पड़ती है इसी प्रकार इन सब संसारी सुखों का भी परिणाम नरक की प्राप्ति है। अतएव वास्तविक सुख वही है जो मनुष्य को जीवन भर सुखी करे। यदि वास्तविक सुख प्राप्त करना है तो दान, शील, तप, भावना, संयम, धृति और कषाय-त्याग अंगीकार कर। यदि इस प्रकार से तू नहीं करेगा तो आयु पूरी होने पर मृत्यु आवेगी। फिर तेरी क्या दशा हो जायगी, तब तू कुछ कर सकेगा या नहीं यह कौन कह सकता है। क्योंकि ये तेरे वश की बात नहीं। इसलिये तू इस जन्म में पुरुषार्थ कर, मृत्यु आने के पहले सब तैयारी करले, ताकि मृत्यु के समय कोई भी भय न हो।

मृत्यु से मनुष्य को डरना नहीं चाहिए, क्योंकि वह देर से अथवा जल्दी अवश्य आवेगी ही। और मृत्यु की इच्छा भी नहीं करनी चाहिये, क्योंकि नया जन्म सुखमय होगा या दुःखमय होगा इसको कोई नहीं कह सकता। इसलिये समझदार आदमी मरने से डरता नहीं और न मरने की इच्छा करता है। वह तो मृत्यु के लिये हमेशा तैयार रहता है और परलोक के लिये धर्म-धन संचय करता रहता है। जिस प्रकार

यात्रा करते समय मनुष्य रास्ते में निर्वाह के लिये खाद्य पदार्थ अपने साथ रखते हैं इसी प्रकार अगले भव के लिये भी धर्म रूपी खाद्य पदार्थ तैयार करके अपने साथ रखना चाहिये।

पुरुषार्थ से आत्मा की सिद्धि

त्वमेव मोग्धा मतिमांस्त्वमात्मन्,
नेष्टाप्यनेष्टा सुखदुःखयोस्त्वम् ।
दाता च भोक्ता च तयोस्त्वमेव,
तच्चेष्टसे किं न यथा हितासिः ॥३॥

अर्थ :—हे आत्मा ! तू ही अज्ञानी है और तू ही ज्ञानी है। सुख की इच्छा करने वाला और दुःख नहीं चाहने वाला भी तू ही है। सुख दुःख देने वाला और भोगने वाला भी तू ही है। इसलिए जिससे तेरा निजी हित हो उसकी प्राप्ति के लिए प्रयास तू क्यों नहीं करता ? ॥३॥

विवेचन :—इस श्लोक में स्वहित के लिए यत्न करने को कहा है। शिष्य कहता है कि सब कुछ तो दैवाधीन है। इसलिए स्वहित के लिए हम यत्न क्यों करें ? तो गुरु कहते हैं कि हे शिष्य ! आत्मा ही अज्ञानी है और यही ज्ञानी है। जब तक ज्ञानावरणी कर्म लगे हैं तब तक यह आत्मा अज्ञानी है और कर्मों के नष्ट हो जाने के बाद ज्ञानी हो जाती है। सुख की हम इच्छा करते हैं और दुःख को धिक्कारते हैं पर सुख दुःख पैदा करने वाले भी हम स्वयं ही हैं। क्योंकि सुख दुःख की प्राप्ति कर्माधीन है। संचित किये हुए कर्म भोगने पड़ते हैं। कर्माधीन का यह अर्थ नहीं कि हम कर्मों के भरोसे हाथ पर हाथ धरे बैठे रहें। कर्म भी तो हमारे आधीन हैं। हम ही कर्म बाँधते हैं और काटते हैं और उनके बंधन को रोकते हैं—यह सब पुरुषार्थ के आधीन है। हमें पुरुषार्थ द्वारा बुरे कर्म बन्धन से बचना चाहिये और बँधे हुए कर्मों की निर्जरा करनी चाहिये।

लोकरंजन और आत्मरंजन

कस्ते निरंजन चिरं जनरञ्जनेन,
धीमन् ! गुणोऽस्ति परमार्थदृशेति पश्य ।

तं रञ्जयाशु विशदैश्चरितैर्भवाब्धौ,
यस्त्वां पतन्तमबलं परिपातुमीष्टे ॥४॥

अर्थ :—हे निर्लेप ! हे बुद्धिमान् ! तूने लंबे समय तक जनरंजन कर कौनसा गुण प्राप्त किया यह परमार्थ बुद्धि से देख और विशुद्ध आचरणों की सहायता से धर्मरञ्जन कर जिसके कारण तेरी आत्मा संसार-समुद्र में न पड़े और तू बच जावे ॥४॥

विवेचन :—अच्छे-अच्छे कपड़े पहन कर, मीठा-मीठा भाषण देकर तुम लोकरंजन कर सकते हो, पर आत्मरंजन या परलोकरंजन नहीं कर सकते। तुम लोकरंजन या आत्मरंजन इन दो में से एक कर सकते हो, क्योंकि ये एक दूसरे के विपरीत हैं। इसलिये शुद्ध और आडम्बर रहित धर्म का आचरण करो जिससे लोकोत्तररंजन हो। इसका साधन दान, दया, शील, तप, भाव, ध्यान, धृति और सत्य आदि हैं।

भरत चक्रवर्ती ने लोकोत्तररंजन को प्रधानता दी। भरत चक्रवर्ती को चक्ररत्न की प्राप्ति तथा उनके पिता ऋषभ भगवान् को केवल ज्ञान एक ही समय में हुए। भरत महाराज चक्कर में पड़ गये कि पहले चक्ररत्न की पूजा करूँ या केवलज्ञान महोत्सव मनाऊँ। अन्त में उन्होंने धर्मरंजन अर्थात् लोकोत्तररंजन को महत्ता दी और केवलज्ञान महोत्सव मनाया। कहा भी है "रिझाओ एक साईं लोक ते बात करेरी" लोक कुछ भी कहें परन्तु जो काम प्रभु को अच्छा लगे सो पहले करो यह लोकोत्तररंजन है। इस प्रकार जब मन में शुद्ध भावना उत्पन्न हो तो समझना चाहिये कि आत्म-सिद्धि निकट ही है।

मद त्याग और शुद्ध विचार

विद्वानहं सकललब्धिरहं नृपोऽहं—
दाताहमद्भुतगुणोऽहमहं गरीयान् ।
इत्याद्यहङ्कृतिवशात्परितोषमेषि,
नो वेत्सि किं परभवे लघुतां भवित्रीम् ॥५॥

अर्थ :—मैं विद्वान् हूँ, मैं सर्वलब्धि वाला हूँ, मैं राजा हूँ, मैं दानेश्वरी हूँ, मैं अद्भुत् गुण वाला हूँ, मैं मोटा हूँ—इस प्रकार के अहंकार के वशीभूत होकर तू अपने मन में अपार संतोष मानता है। पर जरा सोच तो सही! इससे तुझे परलोक में लघुता मिलेगी ॥५॥

विवेचन :—इस संसार में जहाँ देखो दो ही चीजें दिखाई देती हैं—"मैं और मेरा"। जो कुछ अच्छी चीज दुनियाँ में है वह मेरी और दुनियाँ के सब गुण मेरे में हैं। यह अहंकार है। दुनिया में यही सब को नष्ट करता है। ऐसे लोग कर्म सिद्धान्त को नहीं मानते और घमंड में चूर रहते हैं। यह घमंड ही सब संसारी दुःखों का कारण है। इससे दोनों भव नष्ट हो जाते हैं।

तुमको प्राप्त हुई सामग्री

वेत्सि स्वरूपफलसाधनबाधनानि
धर्मस्य, तं प्रभवसि स्ववशश्च कर्तुम् ।
तस्मिन् यतस्व मतिमन्नधुनेत्यमुत्र,
किंचित्त्वया हि न हि सेत्स्यति भोत्स्यते वा ॥६॥

साधना की सहकारी वस्तु, आर्य देश, सुगुरु की प्राप्ति तथा उत्तम जैन धर्म तथा शारीरिक सुख, धन आदि तुझे सब प्राप्त हैं तथा तू धर्म क्रिया करने के लिए स्वतन्त्र भी है। इसलिए धर्म का साधन इसी जन्म में कर ले। कौन जाने तू अगले जन्म में कहाँ जन्म लेगा और आज जैसी सब सामग्री तुझे पुनः प्राप्त होगी या नहीं।

धर्म करने की आवश्यकता और उससे दुःख क्षय

धर्मस्यावसरोऽस्ति पुद्गलपरावर्त्तैरनन्तैस्तवा—
यातः संप्रति जीव हे प्रसहतो दुःखान्यनन्तान्ययम् ।
स्वल्पाहः पुनरेष दुर्लभतमश्चास्मिन् यतस्वार्हतो,
धर्मं कर्तुमिमं विना हि नहि ते दुःखक्षयः कर्हिचित् ॥७॥

अर्थ :—हे चेतन ! बहुत प्रकार के अनेक दुःख सहन करते करते अनन्त पुद्गल-परावर्त्त बीत गये, अब यह धर्म का सुअवसर प्राप्त हुआ है। वह भी थोड़े दिनों के लिए। ऐसा अवसर भी मिलना बहुत कठिन है। इसलिए धर्म करने का उद्यम कर। इसके बिना दुःख का अन्त नहीं हो सकता ॥७॥

विवेचन :—जिस प्रकार नदी का पत्थर कई वर्षों तक गुडता गुडता गोल हो जाता है उसी प्रकार अनन्त काल तक अनेक भवों में घूमते घूमते यह मनुष्य-जन्म प्राप्त होता है। इस मनुष्य जन्म को मत खोओ, समय थोड़े ही वर्षों का है। इसका उपयोग करो, नहीं तो गया समय फिर हाथ नहीं आयगा। चिड़िया चुग गई खेत अब पछताये क्या होत क्या। इसलिये धर्म करो, धर्म बिना जीवन निरर्थक है।

अधिकारी बनने का प्रयत्न करो

गुणस्तुतीर्वाञ्छसि निर्गुणोऽपि, सुख-प्रतिष्ठादि विनापि पुण्यम् ।
अष्टाङ्गयोगं च विनापि सिद्धीर्वातूलता कापि नवा तवात्मन् ॥८॥

अर्थ :—तुझमें गुण नहीं तो भी तू अपनी प्रशंसा सुनना चाहता है। पुण्य किए बिना सुख और प्रतिष्ठा चाहता है। इसी प्रकार अष्टाङ्ग

योग के बिना सिद्धियों की इच्छा रखता है। इस तेरे पागलपन पर बड़ा आश्चर्य होता है ॥८॥

भावार्थ :—इस जीव की ऐसी आदत है कि जो गुण उसमें नहीं है उसकी भी प्रशंसा चाहता है। यह उसकी एकदम मूर्खता है। इसी प्रकार पुण्य बिना भाग्यशालियों के-से सुख की इच्छा करना कहाँ तक उचित है? संसार में ऐसे भी भाग्यशाली प्राणी हुए हैं जिन्होंने उम्र भर कभी दुःख देखा ही नहीं। जैसे शालिभद्रजी जिनके धन का और सुख का पार नहीं था। इन सबका कारण पूर्व भव में संचित पुण्य हैं। बिना पुण्य के ऐसे सुख की इच्छा करना मूर्खता है। इसलिये यदि प्रशंसा अथवा सुख की इच्छा करते हो तो पुण्य-संचय करो।

पुण्य के अभाव में अपमान अतएव पुण्यसाधन कर

पदे पदे जीव पराभिभूतीः पश्यन् किमीर्ष्यस्यधमः परेभ्यः ।
अपुण्यमात्मानमवैषि किं न, तनोषि किं वा न हि पुण्यमेव ॥६॥

अर्थ :—हे जीव! दूसरे पुरुषों के द्वारा किए गए अपमान को देखकर तू दूसरों से ईर्ष्या क्यों करता है? तू अपनी आत्मा को पुण्यहीन क्यों नहीं समझता अथवा तू पुण्य-संचय क्यों नहीं करता ॥९॥

भावार्थ :—अपना अपमान होने पर मनुष्य अपने अपमान करने वाले से ईर्ष्या करता है या क्रोध करता है। पर यह अपमान क्यों हुआ यह कोई नहीं सोचता। अपमान पाप कर्म से होता है। तेरी आत्मा पुण्यहीन है इसलिए अपमान हुआ। अतः अपमान करने वाले पर गुस्सा करना उचित नहीं। उचित तो यह है कि तू पुण्य-संचय कर।

पाप से दुःख इसलिये उसका त्याग

किमर्दयन्निर्दयमङ्गिनो लघून्, विचेष्टसे कर्मसु ही प्रमादतः ।
यदेकशोऽप्यन्यकृतार्दनः सहत्यनन्तशोऽप्यङ्गयमर्दनं भवे ॥१०॥

अर्थ :—तू प्रमाद से जीवों को नाना प्रकार के दुःख देने के व्यापार निर्दयतापूर्वक क्यों करता है? कोई जीव किसी प्राणी को एक

वार भी पीड़ा देता है तो वही पीड़ा उसे भवान्तर में अनन्त वार होगी ॥१०॥

विवेचन :—कोई भी पाप करने से पहले मनुष्य का जीव एक बार हिचकता है। परन्तु पाप बार-बार करने से उसका स्वभाव ही पापकर्मी हो जाता है। अर्थात् उसकी बुद्धि (Conscience) मर जाती है। जैसे चोरी अथवा व्यभिचार पहली वार करने पर मन हिचकता है बार-बार किए जाने पर वही उसका स्वभाव हो जाता है। शास्त्रकार कहते हैं कि जो व्यक्ति दूसरे प्राणी को पीड़ा देता है उसे परभव में उससे कई गुणा तीक्ष्ण तथा अनेक वार वही पीड़ा सहनी पड़ती है और इस भव में भी सुख नहीं होता। भगवान् महावीर के हाथ से दीक्षित धर्मदासजी गणि कहते हैं।

वहमारणअब्भक्खाणदाणपरधणविलोवणाईणं।
सव्वजहण्णो उदओ, दशगुणिओ इक्कसि कयाणं ॥
तीव्वयरेउ पओसे, सयगुणिओ सयसहस्सकोडिगुणो।
कोडाकोडिगुणो वा, हुज्ज विवागो बहुतरो वा ॥

अर्थ :—लकड़ी आदि से मारना या प्राण नाश करना, झूठा कलंक देना, परधन का हरण करना आदि एक वार करने से उदय आने पर कम से कम दस गुणा तो होता ही है। यदि यही तीव्र द्वेष से किया हो तो सौ गुणा, हजार गुणा, लाख गुणा, करोड़ गुणा अथवा करोड़ करोड़ गुणा भी उदय होता है।

इसलिये प्रत्येक मनुष्य को पाप कर्म से डरते रहना चाहिये। पाप बंध करने वाले के मन की तीव्रता पर रस बँधता है इसका ध्यान रखना चाहिए। पाप सेवन नहीं करना चाहिये और सेवन करते समय सोचना चाहिये कि जिस प्राणी को हम पीड़ा देते हैं उसकी जगह यदि हम होते तो हमें कैसा लगता ?

प्राणियों की पीड़ा और उसको बचाने की आवश्यकता

यथा सर्पमुखस्थोऽपि, भेको जन्तूनि भक्षयेत्।
तथा मृत्यमुखस्थोऽपि, किमात्मन्नर्दसेऽङ्गिनः ॥११॥

अर्थ :—जिस प्रकार सर्प के मुँह में रहा हुआ मेंढक दूसरे जन्तुओं को खाना चाहता है उसी प्रकार हे आत्मा ! तू मृत्यु के मुँह में पड़ा हुआ भी अन्य प्राणियों को क्यों दुःख देता है ? ॥११॥

भावार्थ :—अगर हम अमर हों और पाप करें तो चिंता नहीं। परन्तु मृत्यु तो सामने खड़ी है, फिर भी हम पाप करते नहीं रुकते। हमने चारों तरफ धूम मचा रखी है और निश्चित होकर नाच-गान में, विषय-कषाय में लीन हैं। हम नहीं सोचते कि हम थोड़े दिन के लिए ही इस लोक के मेहमान हैं। हम बंद मुट्ठी आये थे और खुली मुट्ठी जावेंगे। इसलिये मोक्ष के अभिलाषी प्राणी ! ज़रा चेत, तेरी स्थिति सर्प के मुँह में पड़े मेंढक की-सी है, पीड़ा से बचना चाहता है तो धर्म का आचरण कर।

मानेहुए सुख का परिणाम

आत्मानमल्पैरिह वञ्चयित्वा, प्रकल्पितैर्वा तनुचित्तसौख्यैः ।
भवाधमे किं जन सागराणि, सोढासि ही नारकदुःखराशीन् ॥१२॥

अर्थ :—हे मनुष्य ! थोड़े और कल्पित शारीरिक तथा मानसिक सुख के लिए इस भव में तू अपनी आत्मा को डुबोता है। इसलिए अधम भवों में सागरोपम जितने काल का नारकी जीवन सहन करना पड़ेगा ॥१२॥

विवेचन :—साधारण मनुष्य कई बार अन्याय से धन प्राप्त करने वाले को सुखी देखता है तो उसका मन विचलित हो जाता है, पर उसे यह सोचना चाहिए कि ये सुख वास्तविक नहीं हैं। वे तो अन्त में अवश्य दुःख देंगे। इसी प्रकार जितने भी सांसारिक सुख, जैसे खाना-पीना, भोग-विलास आदि हैं, ये सब प्रारम्भ में अच्छे लगते हैं लेकिन अन्त में इसी जीवन में दुखदाई हैं, इनसे अनेक कर्मबन्धन होते हैं, नीच गति प्राप्त होती है और अनेक सागरोपम काल तक नरक का दुःख भोगना पड़ता है।

प्रमाद से दुःख और उनके दृष्टान्त

उरभ्रकाकिणयुदबिन्दुकाम्रवणिक्त्रयीशाकटभिक्षुकाद्यैः ।
निदर्शनैर्हारितमर्त्यजन्मा, दुःखी प्रमादैर्बहु शोचितासि ॥१३॥

अर्थ :—प्रमाद करने से हे जीव! तू मनुष्य जीवन खो देता है और उससे दुःखी होकर नीचे दिये हुए बकरा, कांकिणी, जलबिंदु, कैरी, तीन बनिये, गाड़ी चलाने वाले, भिखारी आदि की भाँति बहुत दुःख पाता है ॥१३॥

भावार्थ :—मनुष्य प्रमादवश सुकृत नहीं कर पाता। वह इस दुर्लभ जन्म को वृथा गँवा देता है और समस्त जीवन पर्यन्त दुःख पाता है। उसका पछताना निरर्थक है। यह बात नीचे दृष्टान्तों से समझाई गई है।

१ अज का दृष्टान्त

एक सेठ के पास एक बकरा और एक गाय का बछड़ा था। सेठ बकरे को खूब प्रेम से खिलाता पिलाता परन्तु बछड़े को उसकी माँ का दूध भी पूरा पीने को नहीं मिलता। बकरा बहुत पुष्ट हो गया और बहुत उछल कूद करने लगा। यह देख बछड़ा बकरे से ईर्ष्या करता। एक दिन बछड़े ने क्रोध में आकर अपनी माँ से पूछा कि मालिक इस भाँति भेदभाव क्यों रखता है? तब उसकी माँ ने उसे समझाया कि यह उछल कूद थोड़े दिन ही की है। जब कोई मेहमान आवेगा तो इसी बकरे को मार कर उन्हें खिलाया जायगा। बछड़ा माँ की बात सुनकर चुप हो गया। थोड़े दिनों बाद कोई सेठ का सगा सम्बन्धी आया तो उसकी मेहमानी में उस बकरे को मार कर भून डाला। बछड़े ने यह सब बात देख कर डर कर खाना पीना छोड़ दिया। तब उसकी माँ ने उसे खाना पीना छोड़ने का कारण पूछा तो उसकी माँ ने समझाया कि तू डर नहीं, यह बात तो होने वाली थी, जैसा कि मैंने तुझे पहले ही कहा था। यह बात सुन बछड़ा शान्त हुआ।

इस कहानी का तात्पर्य यह है कि पाप करने से नहीं डरने वाला और निडर हो मस्त होकर फिरने वाला प्राणी बकरे की तरह अचानक मर जाता है। वह इसका कुछ प्रतीकार नहीं कर सकता। इसी तरह व्यसनों से फँसा हुआ आदमी सुख अनुभव करता है, पर मृत्यु के

उपरान्त नरक में जाता है। उसके पछताने से कुछ नहीं बनता। इन सब बातों को ध्यान में रखकर समझदार आदमी धर्म कार्य में कभी प्रमाद नहीं करता।

२ कांकिणी का दृष्टान्त

एक गरीब मनुष्य धन कमाने परदेश गया। कुछ समय में ही उसने बहुत सी कांकिणी (सोने की मोहरें) कमाई। कुछ दिन बाद वह घर को लौटा। उसने कमाई हुई मोहरें एक बाँस में भर लीं और एक मोहर (कांकिणी) खर्च के लिए भुना कर अपने साथ ले ली। एक दिन खाना खाने के लिए वह एक पेड़ के नीचे बैठा और लकड़ी तथा खुले पैसे पास में रख लिये। थोड़ी देर विश्राम कर वह लकड़ी लेकर रवाना हो गया और खुले पैसे वहीं भूल गया। आगे जाने पर उसे कांकिणी की रेजगी की याद आई तो वह लकड़ी को जमीन में गाड़ कर, रेजगी लेने को उस पेड़ की तरफ चला, जहाँ उसने रेजगी रखी थी। वहाँ जाकर देखता है कि रेजगी गायब। लाचार वापिस लौटता है तो क्या देखता है कि वह कांकिणी से भरी हुई लकड़ी भी गायब। जब वह गाँव में पहुँचा तो निर्धन का निर्धन ही रहा। इस प्रकार मनुष्य लोभवश संसार में दौड़ता है और जो कुछ उसे प्राप्त होता है वह भी खो बैठता है। इसी प्रकार मनुष्य इस भव और परभव को सुधारने के लिए सर्वविरति अथवा देशविरति धर्म अंगीकार करता है और फिर भी संसारी सुखों की आकाँक्षा करता है। पर वह दोनों लोकों का नाश कर देता है। कहा है—"दुविधा में दोनों गए, माया मिली न राम।" वह उस मूर्ख मनुष्य की तरह थोड़े पैसों के लोभ में प्राप्त किया हुआ लकड़ी वाला धन भी खो बैठता है।

३ जल बिन्दु का दृष्टान्त

एक मनुष्य प्यास से बहुत पीड़ित था। उसने प्यास मिटाने के लिए एक देव की आराधना की। देव प्रसन्न होकर प्रकट हुआ और उस प्यासे को क्षीर-समुद्र पर ले गया पर प्यासे मनुष्य ने क्षीर-समुद्र का पानी नहीं पिया और देव से प्रार्थना की कि हे देव! आप मुझसे

प्रसन्न हैं तो मुझे मेरे गाँव के पास के कुएँ पर ले चलिये। मैं वहाँ कुएँ के पास लगी दोब पर पड़ी हुई ओस की बूंद पीकर अपनी प्यास बुझाऊँगा। देव समझ गया कि यह मनुष्य करमफूटा है। उसने उसे तत्काल उसी स्थान पर पहुँचा दिया। वहाँ पहुँचकर क्या देखता है कि ओस के बिन्दु जो दोब पर थे, जमीन पर गिर गए। नतीजा यह है कि क्षीर-समुद्र का जल भी गया और ओस की बिन्दु का जल भी नहीं मिला। वह इतने समय तक प्यासा ही रहा। इसी प्रकार कोई पुरुष दैव-संयोग से तप-संयम रूपी क्षीर-समुद्र प्राप्त करे और फिर भी ओस बिन्दु समान संसारी सुख की लालसा करे तो वह न इस भव में न परभव में सुख प्राप्त कर सकता है। चारित्र से भ्रष्ट हुआ मनुष्य दोनों सुखों से वंचित हो जाता है। वह जल-बिन्दु के समान सांसारिक सुख की प्राप्ति के लिए देव-तुल्य गुरु महाराज तथा समुद्र-तुल्य सम्यक्त्व (चारित्र) को खो बैठता है।

४ आम्र दृष्टान्त

एक राजा को कैरी खाने का बड़ा शौक था। वह कैरी देखते ही उन पर झपट पड़ता था। बहुत कैरी खाने से उसे विशूचिका रोग हो गया। वैद्यों ने बहुत इलाज किया तो वह रोग दूर हुआ। वैद्यों ने उसे भविष्य में कैरी चखने की मनाही करदी थी और समझा दिया था कि तुम्हें कैरी खाते ही यह रोग वापिस हो जायगा और मृत्यु हो जायगी। राजा ने देश भर के आम के पेड़ कटवा दिये। इस तरह से कैरी खाने से बचा। लेकिन एक बार वह अपने मन्त्री के साथ शिकार खेलने के लिए जंगल में गया। वहाँ जब वे बहुत दूर निकल गये तो एक आम का पेड़ कैरियों से लदा देखा। राजा ने बहुत दिनों बाद कैरी देखी थी तो मन नहीं मान सका और एक कैरी तोड़कर खाने लगा। मन्त्री ने बहुत मना किया पर वह नहीं माना और कैरी खा गया। कैरी खाते ही विशूचिका रोग हो गया और दैव-संयोग से उसकी वहीं मृत्यु हो गई।

इसी प्रकार यह जीव भी प्रमाद से, काम या भोग की इच्छा से, इन्द्रियों के वश हो जाता है उसे किसी बात का भान नहीं रहता

और वह नहीं करने योग्य कार्य कर बैठता है। दूसरा सार यह भी निकलता है कि इस सांसारिक भोग रूपी दुःसाध्य रोग से बचने के लिए गुरुमहाराज देशविरति अथवा सर्वविरति चारित्र देकर उसे संसारी सुख की तरफ देखने को मना करते हैं तब भी वह सांसारिक सुख या भोग की इच्छा करता है और कर्म रूपी दुःसाध्य व्याधि के वश हो दुर्गति में फँस जाता है, जहाँ से वापिस लौटना कठिन हो जाता है।

५ तीन बनिये

एक बनिये के तीन पुत्र थे। उसने अपने पुत्रों की योग्यता देखने के लिए तीनों पुत्रों को एक-एक हजार मोहरें देकर परदेश कमाने के लिए भेजा और कुछ समय बाद आकर सब हाल बताने को कहा। कुछ समय बीतने पर इनमें से समझदार पुत्र परदेश जाकर अच्छा पैसा कमा कर लौटा और उसने पिता से सब हाल कहा। दूसरे पुत्र ने अपने पैसे को न बढ़ाया न घटाया और कमाकर अपना काम चलाया। लेकिन तीसरे पुत्र ने सब रुपया मौज, शौक तथा जुए में खो दिया और खाली हाथ होकर घर आया। पिता ने तीनों पुत्रों की बात सुनी। उसने बड़े पुत्र का, जिसने परदेश में जाकर मूलधन को बढ़ाया था बहुत आदर किया। दूसरे पुत्र से जिसने मूलधन न बढ़ाया और न घटाया कुछ संतुष्ट हुआ, लेकिन तीसरे लड़के को, जो मूलधन का नाश कर आया घर से निकाल दिया।

६ गाड़ी चलाने वाले का दृष्टान्त

एक गाड़ी वाला किसी गाँव को जाता था। उस गाँव को जाने के दो रास्ते थे—एक साफ और दूसरा ऊबड़ खाबड़ मूर्ख गाड़ी वाले ने दूसरा रास्ता लिया। जिसका नतीजा यह हुआ कि गाड़ी का धुरा बीच जंगल में टूट गया। अब उसे अपनी मूर्खता का ध्यान आया और पछताने लगा।

उपनय

यह दृष्टान्त बुद्धिमान् और पढ़े लिखे श्रोताओं के लिये है। वे संसार की स्थिति जानते हैं। वे जानते हैं कि प्रमाद और मोह से संसार बँधता है और शम, दम, दया, दान आदि से पुण्यबंध अथवा निर्जरा होती है इतना जानते हुए भी मूर्ख गाड़ी वाले की तरह उनका व्यवहार पाप मार्ग की ओर होता है यह अच्छा नहीं। मनुष्य का व्यवहार तो आदर्श होना चाहिये, क्योंकि जनसाधारण पढ़े लिखों का अनुकरण करता है।

७ भिक्षुक का दृष्टान्त

एक भिक्षु था। वह माँगने परदेश निकला। रास्ते में एक मन्दिर में उसने डेरा डाला। रात को एक सिद्ध वहाँ घड़ा लिये आया। उसने घड़ा जमीन पर रखकर उसके द्वारा—महल, धन, स्त्री आदि वस्तुएँ उत्पन्न कर खूब ऐश किया। भिक्षु यह देख चकित हो गया। प्रातःकाल होते ही सिद्ध सब सामान समेट कर जाने लगा तो भिक्षु उसके पैरों पड़ा और सेवा करने लगा। सिद्ध ने प्रसन्न हो उससे पूछा—तू क्या चाहता है; या तो विद्या ले या घड़ा ले। भिक्षु ने सोचा यदि मैं विद्या लेता हूँ तो परिश्रम करना पड़ेगा, इसलिए उसने घड़ा माँगा। सिद्ध ने घड़ा दे दिया। भिक्षु प्रसन्न होकर घर आया और मौज में रहने लगा। एक दिन वह मस्त होकर घड़ा लेकर नाचने लगा। पर दुर्भाग्य से घड़ा गिर गया और फूट गया। घड़ा फूटते ही सब धन-दौलत आदि गायब हो गई। अब वह भिक्षु भिक्षु ही रह गया।

यदि वही भिक्षु घड़ा न लेकर विद्या लेता और परिश्रम से नहीं डरता तो एक घड़े के बदले अनेक घड़े बना लेता और दुर्दिन नहीं देखता।

उपनय

जिस प्रकार भिक्षु प्रमादवश सब सामग्री हार गया उसी प्रकार मनुष्य भी इस भव में धर्म आराधना करने की सब योगवाई प्राप्त करके भी प्रमादवश सब कुछ खो बैठता है और पछताता है। इसका दूसरा अर्थ यह भी है कि मनुष्य तात्कालिक सुख देखता है और उसके लिये अन्याय करने को भी तैयार हो जाता है। परन्तु कष्ट करके सही रास्ते पर नहीं चलता। इसका परिणाम बुरा होता है।

८ दरिद्र कुटुम्ब का दृष्टान्त

एक दरिद्र परिवार वालों ने खीर पूड़ी खाने का विचार किया। सबने निश्चय किया कि सब मिलकर सामान इकट्ठा करें। यह विचार कर सब मिलकर सामान इकट्ठा करने लगे। कोई दूध लाया, कोई शक्कर लाया और कोई चावल। इस प्रकार सब सामान इकट्ठा कर खीर पूड़ी बनाई और खुशी-खुशी सब खाने बैठे। लेकिन खीर का बँटवारा लोभवश नहीं कर सके और आपस में झगड़ने लगे। यहाँ तक कि वे खीर को छोड़कर न्याय कराने न्यायालय गये। जब वापिस लौटे तो देखते क्या हैं कि न खीर है न पूड़ी। कुत्ते सब खा गये। यह तमाशा देख सब दुखी हो मर गये।

उपनय

जिस प्रकार बड़ी मुश्किल से तैयार की हुई खीर पूड़ी दरिद्र परिवार नहीं खा सका उसी प्रकार बड़ी कठिनता से प्राप्त इस मनुष्य जन्म में सब सामग्री प्राप्त करके भी मनुष्य राग—द्वेष के कारण उसका लाभ नहीं उठा सकता; इतना ही नहीं, मरने पर अनन्त काल तक मनुष्य जन्म पुनः प्राप्त नहीं कर सकता। इसलिये मनुष्य को अपनी स्थिति पर संतोष करना चाहिये। दूसरों को सुखी देख द्वेष नहीं करना चाहिये, उसे तो धर्म सामग्री प्राप्त करनी चाहिये।

९ दो वनियों का दृष्टान्त

दो बनिये थे। वे बहुत ही गरीब थे। उन्होंने एक यक्ष के मन्दिर में आकर उसे सेवा से प्रसन्न किया। यक्ष ने प्रसन्न हो उन्हें वर माँगने को कहा। दोनों बनियों ने धन की प्रार्थना की। यक्ष ने कहा कि तुम एक-एक गाड़ी ले आओ, मैं तुम्हें रत्नद्वीप में ले चलूँगा। वहाँ जाकर जितने भी रत्न तुम भर सको गाड़ी में भर लेना। फिर रात्रि के दो पहर शेष रह जावेंगे तब तुम्हें गाड़ी सहित तुम्हारे गाँव पहुँचा दूँगा। इतना सुनकर दोनों बनिये एक-एक गाड़ी ले आये और यक्ष ने उन्हें रत्नद्वीप में पहुँचा दिया। एक बनिया तो तुरन्त रत्नों से गाड़ी भरने लगा। दूसरे बनिये ने एक सुन्दर महकती शैय्या देखी। उसका दिल अति प्रसन्न हुआ और सोचने लगा कि अभी समय बहुत है कुछ आराम करलूँ फिर गाड़ी भर लूँगा। इस तरह सोच कर वह सुन्दर शैय्या पर सो गया। दैव-संयोग से उसे ऐसी गहरी नींद आई कि उसे दो घड़ी प्रातः का ध्यान नहीं रहा और सोता ही रहा। समय पर यक्ष आया और उन दोनों बनियों को उनके गाँव पहुँचा दिया। पहला बनिया जिसने रत्नों से गाड़ी भरी थी मालदार हो गया और बड़े ठाट से रहने लगा, परन्तु दूसरा तो गरीब का गरीब ही रहा और बहुत पछताने लगा।

उपनय

शुद्ध गुरु, धर्म आदि की योगवाई रत्नद्वीप है जो बहुत पुण्य से प्राप्त होती है। मूर्ख लोग इस जन्म को प्रमाद, विषय वासना में गँवा देते हैं फिर पछताते हैं। जो बुद्धिमान् होते हैं वे प्रथम बनिये की तरह सचेत रहते हैं। वे अप्रमत्त होकर धर्म-संचय करते हैं मन को इधर उधर विषय—कषाय की ओर नहीं दौड़ाते और उत्तम व्यवहार, दान, शील, तप, भावना आदि धर्माचरण करते हुए सुखी होते हैं। जो प्रमाद में व सांसारिक विषय भोगों में लिप्त रहते हैं वे नष्ट होते हैं।

१० दो विद्याधरों का दृष्टान्त

दो विद्याधरों ने वैताढ्य पर्वत पर वशीकरण विद्या साधने का विचार कर एक चाँडाल से साधना के लिये उसकी दो कन्याएँ

माँगी। चाँडाल ने दो कन्याएँ दीं। वे दोनों विद्याधर विद्या साधने में लग गये। उन दोनों में से एक तो विद्या साधने में दृढ़ रहा और उस चाँडाल कन्या के हाव भाव में नहीं आया और दत्तचित्त हो छै महीनों में विद्या साध अपने घर वापस आ गया। परन्तु दूसरा विद्याधर उस चाँडाल लड़की के हाव भाव में फँसकर विषय भोग करने लगा। इसका परिणाम यह हुआ कि विद्या तो सधी नहीं और जो कुछ विद्या पढ़ी वह भी चाँडाल कन्या के संपर्क से जाती रही।

उपनयन

विद्याधर के पास सब अनुकूल सामग्री होने पर भी इन्द्रियों के वश होकर सब कुछ खो दिया। इस तरह संसार में भी मनुष्य लालचवश या इन्द्रियों के विकारवश होकर सब धर्म-धन को हार जाता है और विद्याधर की तरह पछताता है, इसलिए मनुष्य को सचेत रहना चाहिए। प्रथम विद्याधर की तरह जो कोई भी व्यक्ति मन को वश में करके काम करेगा वह अवश्य सिद्धि प्राप्त करेगा।

११ निर्भागी का दृष्टान्त

एक निर्भागी को किसी देव की सेवा करने से चिन्तामणि रत्न प्राप्त हुआ, वह बहुत सुख से रहने लगा। एक समय वह समुद्र यात्रा के लिए निकला। चाँदनी रात थी। चिंतामणि रत्न की चमक को चंद्रमा की चमक से मिलाने के लिए बाहर निकाला। पर भाग्यहीन होने से वह चिंतामणि रत्न समुद्र में गिर गया और वह पहले जैसा दरिद्र हो गया।

उपनयन

यह मनुष्य जन्म बड़ी मुश्किल से प्राप्त होता है, और इस जन्म में जैनधर्म चिन्तामणि रत्न के समान है। इस चिन्तामणि रत्न को बड़ी हिफाजत से रखना चाहिये, प्रमादवश खो नहीं देना चाहिए। नहीं तो पीछे पछताना पड़ेगा।

ऊपर के दृष्टान्तों का सार

मनुष्य को विषयों के वश नहीं होना चाहिए। मन को वश में रखना अपना कर्त्तव्य (Duty) समझना चाहिए। उसे दुर्लभ मनुष्य जन्म तथा देव, गुरु, धर्म की योगवाई का लाभ उठाना चाहिए।

प्रत्येक इन्द्रियों के दृष्टान्त

पतङ्गभृङ्गैणखगाहिमीनद्विपद्विपारिप्रमुखाः प्रमादैः ।
शोच्या यथा स्युर्मृतिबन्धदुःखैश्चिराय भावी त्वमपीति जन्तो ॥१४॥

अर्थ :—पतंगा, भँवरा, हिरण, पक्षी, सर्प, मछली, हाथी, सिंह आदि एक-एक इन्द्रिय के वश होकर जिस प्रकार मरण, बन्धन आदि दुःख पाते हैं उसी प्रकार हे जीव! तू भी इन्द्रियों के वश होकर लंबे समय तक दुःख पावेगा ॥१४॥

विवेचन :—इस श्लोक में बताया है कि प्रमाद त्यागना चाहिए। यदि प्रमाद करोगे तो बहुत दुःख उठाना पड़ेगा। अब यहाँ दृष्टान्त देकर समझाते हैं। बिचारे तिर्यञ्च भी एक-एक इन्द्रिय के वश होने के कारण परवश हो बन्धन में आ जाते हैं और अन्त में मृत्यु को प्राप्त होते हैं। जिन मनुष्यों का पाँचों इन्द्रियों पर अंकुश नहीं उनका क्या हाल होगा?

(१) भ्रमर :—कमल की सुगन्ध से मस्त होकर भ्रमर कमल में बैठ जाता है और प्रातःकाल वह कमल सहित हाथी के पेट में पहुँच जाता है। अथवा वह हाथी के सिर के मद की खुशबू से मस्त होकर पास जाता है और कान की चपेट खाकर प्राण दे देता है। यह नासिका इन्द्रिय के वश होने का फल है।

(२) पतंग :—रात्रि में दीपक के प्रकाश से मुग्ध होकर उस पर मंडराता है और गिर कर जान दे देता है। यह चक्षु इन्द्रिय के वश होने का फल है।

(३) हिरण :—वंशी की सुन्दर आवाज से मस्त होकर हिरण शिकारी के जाल में फंस कर जान दे देता है। यह श्रवण इन्द्रिय के आधीन होने से हुआ।

(४) पक्षी :—जमीन पर पड़े हुए दानों के लोभ में पक्षी चिड़ीमार के जाल में फँस कर जान दे देता है, इससे लोभ न करना चाहिये। यह जिह्वा के वश में होने का फल है।

(५) सर्प :—बंसी के मधुर शब्दों के वश में होने से सर्प बम्बी से बाहर आकर सपेरे के हाथ आकर दुःख पाता है। यह श्रवण इन्द्रिय के वश में होने का दूसरा दृष्टांत है।

(६) मछली :—लोहे के काँटे पर लगे हुए मांस के टुकड़े को खाने के लोभ में मछली अपने तालवे में काँटा चुभा लेती है और मर जाती है। यह जीभ के वश होने का दूसरा दृष्टांत है।

(७) हाथी :—हाथी को पकड़ने के लिए एक बड़ा खड्ढा खोदते हैं उसे घास से ढक देते हैं और दूसरी तरफ हथिनी खड़ी कर देते हैं। हाथी हथिनी को देख काम-वश दौड़ता है, वह खड्ढे में पड़ जाता है और पकड़ा जाता है। यह स्पर्श इन्द्रिय के अधीन होने का फल हुआ।

(८) सिंह :—एक पिंजरे में बकरा बाँध देते हैं, सिंह बकरे को खाने के लिये पिंजरे में घुसता है और पकड़ा जाता है। यह रसना के वशीभूत होने का फल है।

इस प्रकार जब तिर्यञ्च भी एक-एक इन्द्रिय के वश होकर दुःख पाता है तो मनुष्य ज्ञानवान होकर भी पाँचों इन्द्रियों के वश हो जावे तो उसका क्या हाल होगा यह विचारना चाहिये।

प्रमाद त्याज्य है

[पुरापि पापैः पतितोऽसि दुःखराशौ पुनर्मूढ ! करोषि तानि ।
मज्जन्महापङ्किलवारिपूरे, शिला निजे मूर्ध्नि गले च धत्से ॥१५॥

अज्ञान है। वह यह नहीं समझता कि जो कुछ ऐश्वर्य प्राप्त हुआ है वह सब धर्म के कारण है। और उसी ऐश्वर्य से धर्म का नाश करना यह स्वामीद्रोह है जो बहुत बुरा है। शास्त्रकार कहते हैं "धर्म अर्थ इहां प्राणनेजी, छंडे पण नहीं धर्म" सत्त्ववंत प्राणी धर्म के लिए सब कुछ त्याग देता है परन्तु संसारी वस्तुओं के लिये धर्म को नहीं छोड़ता। कारण, धर्म त्याग देने से धन, यौवन और वैभव कुछ भी नहीं मिलता।

सकाम दुःख सहने से लाभ

दुःखं यथा बहुविधं सहसेऽप्यकामः,
कामं तथा सहसि चेत्करुणादिभावैः।
अल्पीयसापि तव तेन भवान्तरे स्या—
दात्यन्तिकी सकलदुःखनिवृत्तिरेव ॥१८॥

अर्थ :—यह जीव बिना इच्छा के जिस तरह अनेक प्रकार के दुःख सहन करता है, उसी तरह यदि करुणा आदि भावना से इच्छा पूर्वक थोड़े भी दुःख सहन करे तो भवान्तर में हमेशा के लिए उन सब दुःखों का अंत हो जावेगा ॥१८॥

पाप कर्म को अच्छा मानने वाले के लिए

प्रगल्भसे कर्मसु पापकेष्वरे, यदाशया शर्म न तद्विनानितम् ।
विभावयंस्तच्च विनश्वरं द्रुतं, बिभेपि किं दुर्गतिदुःखतो न हि ॥१६॥

अर्थ :—जो सुख की इच्छा से तू पाप कर्मों में मूर्खता से तल्लीन होता है तो वह सुख उम्रभर न होने से किसी काम का नहीं और जिन्दगी भी शीघ्र नाशवन्त है। जब तू यह सब समझता है तो हे भाई ! तू दुर्गति के दुःख से क्यों नहीं डरता ॥१९॥

भावार्थ :—बहुत से प्राणी पाप कर्मों को अच्छा मानते हैं और उनमें अनेक लाभ बतलाते हैं। जैसे व्यापार में छलकपट से लाभ। इस प्रकार लाभ की इच्छा करने वाले को सोचना चाहिए कि ऐसा सुख बहुत हुआ तो इस भव में पा लेगा। परभव में तो साथ जाने वाला नहीं। ये हवेली, बाग, बगीचे और सब ऐश की चीजें यहीं रह जावेंगी। क्योंकि जिन्दगी का कोई भरोसा नहीं। जब जिन्दगी इतनी अस्थिर है तो यहाँ थोड़े सुख के लिए पाप कर अगले जन्म के लिए बहुत दुःख संचय करना कोई बुद्धिमानी नहीं है।

दृष्टान्त सेठ और महन्त

एक सेठ ने बहुत सुन्दर बँगला बनवाया, सजावट करवाई, दूर-दूर देशों से सामान मँगाया, चित्राम के लिए बड़े-बड़े कारीगर बुलाये और जब बन कर तैयार हो गया तब लोगों को बुलाकर दिखाया, और वह सजावट के सामान की प्रशंसा सुनने की तीव्र इच्छा रखता। एक बार उनके गुरु महाराज आए। उनको मकान खूब घूम-घूम कर दिखाया और प्रत्येक सामान की प्रशंसा करता। परन्तु गुरु महाराज मौन रहे। अन्त में सेठ ने पूछा क्या महाराज इस सुन्दर बंगले में कोई कसर रह गई है जिसके कारण आप बोलते नहीं। यह सुन महाराज बोले, "हाँ"। तब सेठ ने चकित होकर पूछा "क्या"? महाराज ने कहा बंगला इत्यादि सब ठीक है पर इस बंगले में दरवाजे नहीं होने चाहियें, सेठ ने चकित हो पूछा, 'क्यों'? तब महाराज ने उत्तर दिया कि एक दिन ऐसा आयगा

कि लोग तुझे इन्हीं दरवाजों से बाहर निकालेंगे। यदि ये दरवाजे न होते तो तुझे बाहर नहीं निकाल सकते थे। सेठ इसका अभिप्राय समझ गया। उसी दिन से उसने सांसारिक वस्तुओं से मोह छोड़ दिया और अन्त में उन्हीं महाराज के पास दीक्षा लेली।

तेरे कार्य और भविष्य का विचार

कर्माणि रे जीव ! करोषि तानि, यैस्ते भविष्यो विपदो ह्यनन्ताः।
ताभ्यो भिया तद्दधसेऽधुना किं, संभाविताभ्योऽपि भृशाकुलत्वम् ॥२०॥

अर्थः—हे जीव ! जब तू ऐसे कर्म करता है कि जिनसे तुझे भविष्य में अनन्त आपत्तियाँ मिलेंगी तो तू सम्भावित आपत्तियों के डर से अभी इतना क्यों घबराता है (अर्थात् घबराता है तो पाप मत कर) ॥२०॥

भावार्थः—जब व्याख्यान सुनते हैं और नारकी के दुःखों का वर्णन सुनते हैं तो कँपकँपी आ जाती है। किस प्रकार परमाधर्मी देव पापी जीव को कष्ट देते हैं तथा नारकी के जीव अगले भव का वैर कैसे बुरी तरह निकालते हैं, यह सुनते हैं तो मनुष्य का हृदय काँपने लगता है। तिर्यञ्च जीव को कितना दुःख होता है यह तो प्रत्यक्ष देखते हैं। यह सब जान कर भी लोग पाप करते हैं। अतः देखना चाहिये कि पाप करने में और पाप जनित दुःख सुनकर कँपकँपी आने में कितना अन्तर है; याने पाप करने में हिचकिचाट नहीं पर पाप का दुःख सुनकर घबराहट हो जाती है। यदि पाप करते समय हिचकिचाहट हो तो पाप करने से बच सकता है।

अपने साथियों की मृत्यु से ज्ञान

ये पालिता वृद्धिमिताः सहैव, स्निग्धा भृशं स्नेहपदं च ये ते।
यमेन तानप्यदयं गृहीतान्, ज्ञात्वापि किं न त्वरसे हिताय ॥२१॥

अर्थः—जो तेरे साथ पले-पोसे, मोटे हुए, जिनसे अत्यन्त मोह था और जो तुझसे स्नेह रखते थे, उनको भी यमराज ने निर्दयता से उठा

लिया। यह जान कर भी तू अपने हित के लिए क्यों नहीं जल्दी करता ? ॥२१॥

भावार्थः– जिनके साथ हम बचपन में खेले-कूदे, बड़े हुए और जिनके साथ बड़ा प्रेम था, और उनका भी हम पर बड़ा प्रेम था इसी प्रकार हमारे निकट सम्बन्धी जैसे माता पिता अथवा स्त्री या पति, और प्राणों से भी प्यारा पुत्र भी अचानक छोड़ चले जाते हैं या उनकी अकाल मृत्यु हो जाती है। यह अपना प्रति दिवस का अनुभव है। ऐसी स्थिति में यह सोचना चाहिये कि एक दिन अपने को भी जाना है। इसलिये जो कुछ आत्महित करना है वह कर लेना चाहिये। यह आत्महित क्या है यह समझ कर उसी के अनुसार आचरण करना चाहिये।

अपने पुत्र, स्त्री या सम्बन्धी के लिये पाप करने वालों को उपदेश

यैः क्लिश्यसे त्वं धनबन्ध्वपत्ययशःप्रभुत्वादिभिराशयस्थैः।
कियानिह प्रेत्य च तैर्गुणस्ते, साध्यः किमायुश्च विचारयैवम् ॥२२॥

अर्थः—कल्पना में रहा हुआ धन, सम्बन्धी, पुत्र, यश और प्रभुत्व की इच्छा से तू दुःख उठाता है। पर तू यह विचार कर कि तू इस भव में और परभव में इससे कितना लाभ उठा सकता है और तेरी उम्र कितनी है ? ॥२२॥

भावार्थः—मनुष्य धन प्राप्ति के लिये अनेक कष्ट उठाता है तथा अपने पुत्रों के लिए धन छोड़ जाने को अथवा संसार में अपना मान सम्मान बढ़ाने के लिए अनेक प्रकार के कष्ट सहन कर न्याय-अन्याय से धन इकट्ठा करता है ? ऐसा करने में उसे यह सोचना चाहिये कि इससे उसे आत्मिक लाभ क्या है। इस भव में जो सुख प्राप्त होने की आशा रखता है वह कितने समय के लिये ? क्योंकि मृत्यु का कोई ठिकाना नहीं, और परभव में भी मेरे किये हुए कार्य से क्या असर होगा ? कहीं मैं नरक या निगोध के पाप तो नहीं बाँध रहा हूँ कि जहाँ से अनन्त काल तक छुटकारा नहीं होगा। मनुष्य संसार में आया है, उसे अपना कर्तव्य निभाना पड़ता है। जैसे पिता-धर्म, पुत्र-धर्म, जाति

अथवा देश-धर्म को वह जरूर निभाये, पर लक्ष्य उसका न्यायोचित कार्य की ओर रहना चाहिये जिससे पाप बन्धन नहीं हो और आत्मिक सुख की प्राप्ति हो।

परदेशी पथिक का प्रेम हितवचन

किमु मुह्यसि गत्वरैः पृथक् कृपणैर्बन्धुवपुःपरिग्रहैः।
विमृशस्व हितोपयोगिनोऽवसरेऽस्मिन् परलोकपान्थ रे ॥२३॥

अर्थः—हे परलोक में जाने वाले पथिक! अलग-अलग (स्थान को) जाने वाले ऐसे भाई बन्धु, शरीर और पैसे से तू मोह क्या करता है? तू तो इस समय ऐसा उपाय कर जिससे तेरे सुख में बढ़ोतरी हो ॥२३॥

भावार्थः—स्त्री, पुत्र, धन ये सब शरीर छूटते ही अलग अलग हो जाते हैं। पैसा घर में रह जाता है, स्त्री घर की देहली तक जाती है, पुत्र श्मशान तक जाता है और शरीर चिता तक जायगा, पर अन्त में तू अकेला ही जायगा, इनमें से कोई तेरा साथ देने वाला नहीं। ये सब कुछ जो मिले हैं वे अल्प समय के लिये एक मेले की तरह मिले हैं और अन्त में सब अपने अपने ठिकाने चले जायँगे।

जेम मेलो तीरथ मले रे, जनवणजनी काज,
कोई टोटो कोई फायदो रे, लेई लेई निज घर जाय।

संसार की स्थिति इस प्रकार की है, इसे समझो और सोचो कि हित कहाँ है? यह समझ कर जन-समूह का हित हो ऐसा काम करो, आत्महित साधन करो और संसारी प्रपंचों से दूर रहो। इससे संसार घटेगा।

आत्म जागृति

सुखमास्से शुखं शेषे, भुङ्क्षे पिबसि खेलसि।
न जाने त्वग्रतः पुण्यैर्विना ते किं भविष्यति ॥२४॥

अर्थः—सुख से बैठते हो, सुख से रहते हो, सुख से खाते हो, सुख से पीते हो और सुख से खेलते हो। परन्तु आगे पुण्य बिना तेरा क्या हाल होगा सो तू नहीं जानता ॥२४॥

भावार्थः—मनुष्य के पास सब सांसारिक सुख हैं, वह अच्छा खाता है अच्छा पीता है, मौज शौक करता है, सब तरह के भोग भोगता है और अपने आपको सुखी मानता है। उसे समझना चाहिये कि ये सब सुख पूर्व पुण्य के प्रभाव से हैं। तूने पूर्व जन्म में पुण्य संचय करके ये सुख प्राप्त किये। पर अब सोच कि तूने अगले जन्म के लिये कितना पुण्य संचय किया। इसलिये तू पुण्य-संचय करने में ध्यान रख और खाने पीने, मौज शौक में समय मत खो।

थोड़े कष्ट से तो तू डरता है और बहुत दुःख पावे ऐसा कार्य करता है

शीतात्तापान्मक्षिकाकतृणादिस्पर्शाद्युत्थात्कष्टतोऽल्पाद्बिभेषि ।
तास्ताश्चैभिः कर्मभिः स्वीकरोषि, श्वभ्रादीनां वेदना धिग् धियं ते ॥२५॥

अर्थः—सर्दी, गर्मी, मधुमक्खी के डंक, और तीखे तिनके के चुभने से जो थोड़ा कष्ट होता है और थोड़े समय के लिये होता है उसको तू सहन नहीं कर सकता और तू स्वयं ऐसे कर्म करता है जिससे नरक निगोद की महावेदना तुझे होगी, तो तेरी बुद्धि को धिक्कार है ॥२५॥

भावार्थः—ज्ञानी गुरु महाराज को बड़ा आश्चर्य होता है कि यह जीव यहाँ बड़े ऐश आराम से रहता है। सर्दी अथवा गर्मी सहन नहीं कर सकता, मच्छर खा जावे तो वह भी सहन नहीं, एक छोटा तिनका या काँटा कपड़ों में हो तो बड़ी पीड़ा होती है और एक उपवास भी करे तो सुबह उठना कठिन हो जाता है। जब ऐसे छोटे कष्ट भी सहन नहीं कर सकते तो जो कर्म तुम यहां करते हो उससे परभव में अभी के दुःख से कई गुणा अधिक दुःख होगा वह कैसे सहन होगा। अतएव तुमको धर्म-धन का संचय करना चाहिये और गुरु महाराज के उपदेशानुसार वर्तन करना चाहिये ताकि नरक निगोद का दुःख पाने का मौका ही न आवे।

उपसंहार—पाप का डर

कचित्कषायैः कचन प्रमादैः, कदाग्रहैः कापि च मत्सराद्यैः ।
आत्मानमात्मन् कलुषीकरोषि, बिभेषि धिङ् नो नरकादधर्मा ॥२६॥

अर्थः—हे आत्मन् ! किसी समय कषाय करके, किसी समय प्रमाद करके, कभी कदाग्रह करके और कभी मत्सर करके आत्मा को मलिन करता है। अरे तुझे धिक्कार है ! तू ऐसा पापी है कि नरक से भी नहीं डरता ॥२६॥

भावार्थः—यह जीव कभी क्रोध करता है, कभी अहंकार करता है, कभी कपट करता है, कभी पैसे के लिये हाय हाय करता है, कभी अविरतिपने में आनन्द मानता है, कभी मन में अशुद्ध विचार लाता है, कभी अपने कुल, बल, विद्या, धन का गर्व करता है, कभी किसी स्त्री को देख आसक्त होता है, कभी राजकथा, देश कथा या स्त्री कथा करता है। कभी लोभवश जाति, संघ या देश की कुछ हानि भी हो उसकी परवाह नहीं करता और मनमानी करता है, कभी असत्य बोलता है, धोखा देता है, चोरी करता है, इस प्रकार अनेक तरह से अपनी आत्मा को मलिन करता है और संसार भ्रमण का हेतु पाप इकट्ठा करता है। इसलिये हे चतन ! तू चेत

× × × ×

इस सम्पूर्ण अधिकार का सार यह है कि आत्मा को अपने आत्मिक सुख तथा पौद्गलिक सुख में क्या भेद है यह समझना चाहिये। अपनी वस्तु और पराई वस्तु क्या है यह जानना चाहिये। चेतन आत्मा शुद्ध स्वरूप है लेकिन अनादि कर्मों के अभ्यास के कारण अपनी शुद्ध आत्मा पर अनेक आवरण चढ़ गये हैं। इसलिये शुद्ध आत्मा दृष्टिगोचर नहीं होती। आजकल का वातावरण भी आत्मिक शुद्धि को समझने के प्रतिकूल है। इसलिये आत्मिक गुण को समझने के लिये संसार के प्रति वैराग्य पैदा करना आवश्यक है। यह भी समझना चाहिये कि जो कुछ दुःख अथवा संसार भ्रमण होता है वह सब विषय वासना तथा कषाय के कारण होता है। यदि विषय-कषाय वश में हो जावे तो संसार-भ्रमण मिट जावे।

वैराग्य तीन कारणों से होता है, एक इच्छित वस्तु के न मिलने से और अनिच्छित वस्तु के प्राप्त होने से, इसे शास्त्र का दुःख-गर्भित वैराग्य कहते हैं। दूसरा आत्मा को खोटी रीति से वैराग्य हो

उसे मोहगर्भित वैराग्य कहते हैं। तीसरा आत्मा के शुद्ध स्वरूप को समझने से संसार की तरफ से उदासीन होना, वह ज्ञानगर्भित वैराग्य कहलाता है। यह अन्तिम वैराग्य, जिससे वस्तु स्वरूप का बोध होता है, यही भवभ्रमण मिटाकर मोक्ष देता है।

मनुष्य जन्म बड़ा दुर्लभ है। ८४ लाख जीव योनियों में भटकने के बाद यह मनुष्य जन्म प्राप्त होता है, इस बात का बार बार विचार करना चाहिये। मनुष्य तात्कालिक सुख के पीछे असली सुख भूल जाता है। वह नहीं समझता कि यह संसार स्वार्थ का है और दो दिन के मेले के समान है। कोई किसी के काम नहीं आ सकता। मनुष्य को अपना कार्य करते हुए जो समय मिले उसे अपने स्वरूप के विचार में लगा देना चाहिये। आत्मा में अनन्त शक्ति है, वह कर्म के पुद्गलों से ढकी है। इन कर्म पुद्गलों को हटाने को आत्मदर्शन की आवश्यकता है। आत्मदर्शन के लिये वैराग्य आवश्यक है। यह बात जाननी चाहिये कि संसार और वैराग्य में मेल नहीं है। जहां संसार है वहां कर्म है और जहाँ कर्म है वहाँ वैराग्य अथवा आत्मदर्शन नहीं। संसार के प्रति वैराग्य भावना अपनाने के लिये शुद्ध विचारों की आवश्यकता है और अपने प्रत्येक कार्य पर निगरानी रखना आवश्यक है।

एकादश अधिकार

धर्म शुद्धि

मनोनिग्रह और वैराग्यभाव तभी फल देते हैं जब शुद्ध देव, गुरु और धर्म का ज्ञान हो।

धर्म शुद्धि का उपदेश

भवेद्भवापायविनाशनाय यः तमज्ञ धर्मं कलुषीकरोषि किम् ।
प्रमादमानोपधिमत्सरादिभिर्न मिश्रितं ह्यौषधमामयापहम् ॥१॥

अर्थ :—हे मूर्ख ! जो धर्म तेरी सब सांसारिक विडम्बनाओं का नाश करने वाला है उसे ही तू प्रमाद, मान, माया, मत्सर आदि से क्यों मलिन करता है ? इस बात को अच्छी तरह समझ ले कि मिश्रित औषधि के सेवन से व्याधि नष्ट नहीं होती ॥१॥

भावार्थ :—धर्म का अर्थ यहाँ वीतराग भगवान् के उपदेश के अनुसार मन, वचन तथा काया का शुद्ध व्यापार है। धर्म का शब्दार्थ तो धारयति इति धर्मः—नरकादि अधोगति में पड़ते जीव को उच्च स्थान ले जाने वाला धर्म है। स्वरूप में विद्यमान आत्मा हलकी होती है, पर कर्म-पुद्गलों से लिप्त होने पर भारी हो जाती है। जैसे भारी वस्तु नीचे जाती है उसी प्रकार कर्मों से लिप्त आत्मा भी नीचे जाती है। यहाँ हलकी आत्मा अर्थात् कर्म पुद्गलों से रहित होने पर ऊपर जाती है, अर्थात् मोक्ष की ओर जाती है। आत्मा को कर्म रहित करने के उपाय सामायिक, पूजा, प्रतिष्ठा, देश सेवा, जन-समूह-सेवा और प्राणी-सेवा आदि है। यही धर्म है। यहाँ कवीश्वर कहते हैं कि धर्म-शुद्धि से जन्म, जरा, मृत्यु का भय नष्ट होता है। परन्तु यह जीव प्रमाद, मान, माया, कपट आदि से अपने आपको तथा धर्म को मलिन कर देता है। जीव कषाय-विषयादि में फँस कर धर्म को मलिन करता है। इस प्रकार दुःख टालने की शक्ति का नाश करता है।

शुद्ध पुण्य को नाश करने वाला वस्तुएं

शैथिल्यमात्सर्यकदाग्रहक्रुधोऽनुतापदम्भाविधिगौरवाणि च ।
प्रमादमानौ कुगुरुः कुसंगतिः श्लाघार्थिता वा सुकृते मला इमे ॥२॥

अर्थ :—शिथिलता, मत्सर, कदाग्रह, क्रोध, अनुताप, दंभ, अविधि, गौरव की भूख, प्रमाद, मान, कुगुरु, कुसंग, आत्म-प्रशंसा के श्रवण की इच्छा, ये सब सुकृत्य या पुण्य राशि में मैल रूप हैं ॥२॥

भावार्थ :—नीचे बताए हुए पदार्थ पुण्य रूपी सोने में मैल के समान अथवा चन्द्रमा में कलंक स्वरूप हैं, इनको अच्छी तरह समझना चाहिए।

१. धर्म क्रिया—आवश्यक क्रिया—चैत्यवन्दन आदि में मन नहीं लगना—शिथिलता
२. दूसरे के गुणों को नहीं देख सकना तथा उनसे जलना—ईर्ष्या
३. झूठी बात को पकड़ कर बैठना और कहना कि यह सही है—कदाग्रह
४. क्रोध करना—क्रोध
५. शुभ काम में पैसा लगाकर पश्चात्ताप करना—अनुताप
६. कहना कुछ और करना कुछ—माया कपट
७. शास्त्र में बताई मर्यादा के अनुसार नहीं करना—अविधि
८. कोई अच्छा काम कर घमण्ड करना—मान
९. समकित और व्रत रहित गुरु—कुगुरु की सेवा
१०. नीच की संगति—कुसंगति
११. अपनी प्रतिष्ठा को दूसरे के मुख से सुनने की इच्छा—श्लाघा, ये वस्तुएँ पुण्य रूपी सोने में मैल स्वरूप हैं। ये संसार में भ्रमण कराने वाली हैं।

पर गुण प्रशंसा

यथा तवेष्टा स्वगुणप्रशंसा, तथा परेषामिति मत्सरोऽभ्भी ।
तेषामिमां संतनु यल्लभेथास्तां नेष्टदानाद्धि विनेष्टलाभः ॥३॥

अर्थ :—जिस तरह तुम्हें अपने गुणों की प्रशंसा अच्छी लगती है इसी प्रकार दूसरे को भी अपनी प्रशंसा सुनना अच्छा लगता है। इसलिए ईर्ष्या छोड़ कर उसके गुणों की प्रशंसा अच्छी तरह करो। जिससे तुममें भी वे गुण आ सकें, क्योंकि प्यारी वस्तु दिये बिना प्यारी वस्तु नहीं मिलती ॥३॥

भावार्थ :—यदि अपनी प्रशंसा सुनने की इच्छा है तो तुमको दूसरे की प्रशंसा सुनकर द्वेष नहीं करना चाहिए। बल्कि तुम खुद भी उसकी प्रशंसा करो। ऐसा करने से वह तुम्हारी प्रशंसा करेगा। मनुष्य स्वभाव ही ऐसा है कि तुम अच्छी चीज दोगे तो वह बदले में अच्छी वस्तु देगा। प्रशंसा करना और बदले में प्रशंसा प्राप्त करना यह तो व्यावहारिक बात हुई। परन्तु निष्काम वृत्ति से दूसरे के गुणों की प्रशंसा करने से वही गुण अपने में पैदा होते हैं।

अपने गुणों की प्रशंसा और दोषों की निन्दा

जनेषु गृह्णत्सु गुणान् प्रमोदसे,
ततो भवित्री गुणरिक्तता तव।
गृह्णत्सु दोषान् परितप्यसे च चेद्,
भवन्तु दोषास्त्वयि सुस्थिरास्ततः ॥४॥

अर्थ :—दूसरों से अपने गुणों की स्तुति सुन प्रसन्न होता है तो तू अपने गुणों का नाश करता है। यदि तू दूसरों से अपने दोष सुनकर दुखी होता हो तो तेरे दोष दृढ़ होते हैं ॥४॥

भावार्थ :—यदि भाषण देने की चतुरता, तप, मान आदि में कोई गुण तुझमें है और तू अपने स्नेही जनों से उनकी चर्चा सुन प्रसन्न होता है या घमण्ड करता है तो तेरे गुणों का अन्त हो रहा है ऐसा निश्चय से जान। परन्तु जो लोग गुण के लिए गुण से प्रेम करते हैं और जो लोग उनकी प्रशंसा करते हैं उन पर ध्यान नहीं करते वे पुरुष धन्य हैं। इसी प्रकार यदि कोई तुम्हारे अवगुण देख तुम्हारी निन्दा करे और तुम उन पर क्रोध करते हो तो तुम अपने अवगुणों

को नहीं हटा सकोगे। वे दोष बढ़ते ही जावेंगे और अन्त में धोखा होगा।

शत्रु गुण प्रशंसा

प्रमोदसे स्वस्य यथान्यनिर्मितैः, स्तवैस्तथा चेत्प्रतिपान्थिनामपि।
विगर्हणैः स्वस्य यथोपतप्यसे, तथा रिपूणामपि चेत्ततोऽसि वित् ॥५॥

अर्थ :—दूसरों के मुख से अपनी प्रशंसा सुनकर जिस प्रकार तुझे आनन्द होता है उसी प्रकार अपने शत्रु की प्रशंसा सुनकर यदि तुझे प्रसन्नता होती है और अपने दोष सुनकर जैसे तुझे दुःख होता है वैसे ही अपने वैरी के दोष सुनकर यदि तुझे दुःख होता है तो तू वास्तव में समझदार है। क्योंकि गुणी मनुष्य गुणी की प्रशंसा करता है। गुणी मनुष्य बिना संकोच के सब जगह से गुणों को ग्रहण करता है।

परगुण प्रशंसा

स्तवैर्यथा स्वस्य विगर्हणैश्च, प्रमोदतापौ भजसे तथा चेत्।
इमौ परेषामपि तैश्चतुर्ष्वप्युदासतां वासि ततोऽर्थवेदी ॥६॥

अर्थ :—जिस प्रकार अपनी प्रशंसा अथवा निन्दा सुनकर आनन्द अथवा दुःख होता है उसी प्रकार दूसरे की प्रशंसा या निन्दा सुनकर तुझे आनन्द या दुःख होता है अथवा इन चारों स्थितियों में तुझे न खेद होता न आनन्द होता है, अर्थात् तू उदासीन वृत्ति रखता है तो तू वास्तव में ज्ञानी है ॥६॥

गुणों की प्रशंसा की इच्छा हानिकारक है

भवेन्न कोऽपि स्तुतिमात्रतो गुणी,
ख्यात्या न बह्व्यापि हितं परत्र च।
तदिच्छुरीर्ष्यादिभिरायतिं ततो,
मुधाभिमानग्रहिलो निहंसि किम् ॥७॥

अर्थ :—लोग किसी के गुण का बखान करें तो इससे उसे कोई लाभ होने वाला नहीं और बहुत ख्याति से भी अगले भव में हित होने की संभावना। नहीं इसलिए आने वाले भव में यदि मनुष्य अपना हित करना चाहता है तो निकम्मे अभिमान के वशीभूत हो ईर्ष्या करके वह अगले भव को क्यों बिगाड़ता है? ॥७॥

विवेचन :—कोई मनुष्य यह समझे कि लोग मेरी स्तुति करते हैं इससे मुझे कुछ लाभ होता है अथवा मेरा परलोक सुधरता है ऐसा सोचना हितकर नहीं है। यथार्थ स्तुति सुन घमण्ड के वशीभूत हो वह अपना पर-भव बिगाड़ लेता है। इसलिए स्तुति सुनने की इच्छा नहीं करनी चाहिए। पर-स्तुति के योग्य बनना श्रेष्ठ कार्य है। कोई अपनी स्तुति करे या न करे इसमें अपनी कोई हानि नहीं। पर-स्तुति कराने के लिए आडम्बर करना बुरा है, मनुष्य को अपनी वास्तविकता के अनुसार ही वर्ताव करना चाहिए। लोग परभव में अपना हित चाहते हैं, पर काम वे ऐसा करते हैं कि जिससे परभव बिगड़ता है। वे इस भव में दूसरों के गुण या स्तुति देखकर ईर्ष्या करते हैं। पराये गुणों की पूरी प्रशंसा नहीं करते अथवा गुणों की उपेक्षा कर उसकी निन्दा करते हैं। ऐसा करने वाले पुरुष अपना परभव बिगाड़ते हैं। इसलिए लोगों के मुख से स्तुति सुनने की इच्छा से कोई काम नहीं आरम्भ करना चाहिये। क्योंकि गुण तो प्रकाश में अवश्य ही आ जायँगे। जैसे कस्तूरी डिब्बी में बन्द रहने पर भी उसकी सुगन्ध चारों तरफ फैल जाती है। इसी तरह गुण भी स्वयंमेव सबको प्रकट हो जावेंगे। इस प्रकार उसका परभव बिगड़ने से बच जायगा।

शुद्ध धर्म करना चाहिए चाहे थोड़ा ही हो

भजन्ति के के न बहिर्मुखा जनाः प्रमादमात्सर्यकुबोधविप्लुताः।
दानादिधर्माणि मलीमसान्यमून्युपेक्ष्य शुद्धम् सुकृतं चराणवपि ॥८॥

भावार्थ :—मनुष्य प्रमाद वश अर्थात् मद, विषय-कषाय, विकथा आदि के कारण अथवा मात्सर्य अर्थात् पराई ऋद्धि से, ईर्षा से तथा मिथ्यात्व आदि से घिरा हुआ जो कुछ दान, शील, तप तथा मिथ्यात्व मान्यता, दृष्टिराग के कारण अयोग्य व्यक्तियों के लिये लाखों रुपया खर्च कर देता है अथवा अज्ञान में लंघन (उपवास) आदि करता है वह सब निरर्थक है। अथवा नाम कमाने के लिये जो लाखों रुपये खर्च करता है वह भी निरर्थक है। वह धर्म कार्य को कलंकित करने वाला है। यह सब सोने की थाली में लोहे की मेख के समान है, इष्ट फल को रोकने वाला है और संसार को बढ़ाने वाला है। यदि तुमको अपना इष्ट साधन करना है तो उपरोक्त दोषों का त्याग कर शुद्ध धर्म करो। इस प्रकार तुम को बहुत आनन्द प्राप्त होगा।

प्रशंसा विना किया हुआ सुकृत्य श्रेष्ठ है

आच्छादितानि सुकृतानि यथा दधन्ते,
सौभाग्यमत्र न तथा प्रकटीकृतानि।
व्रीडानताननसरोजसरोजनेत्रा—
वक्षःस्थलानि कलितानि यथा दुकूलैः ॥६॥

अर्थ :—इस दुनिया में अप्रगट पुण्य और सुकृत्य (गुप्तदानादि) जितना फल देते हैं उतना फल प्रगट में किया हुआ सुकृत नहीं देता। जैसे लज्जा से मुख कमल को झुका लेने वाली कमलनयनी स्त्री का मुख तथा वस्त्र से ढका हुआ स्तन मण्डल जितना शोभा देता है उतनी शोभा मुख या स्तन निर्वस्त्र हो तो नहीं होती ॥ ९ ॥

भावार्थ :—गुप्त धर्म कार्य करने वाला पुरुष वास्तव में अपने साथ लाभ बाँध कर परलोक ले जाता है और दुनिया चाहे उसका गुण गावे या नहीं उसे उसकी परवाह नहीं। जिस प्रकार कंचुकी पहने ऊपर से साड़ी पहने हुए स्त्री के स्तनों की जो शोभा है वैसी शोभा बिना वस्त्र धारण किए स्तनों की नहीं। इसी तरह गुप्त सुकृत्य अधिक सौभाग्य देते हैं। गुप्त सुकृत्य करने वाले को बहुत शान्ति होती उस सुकृत्य का ध्यान (विचार) भी आत्म-संतोष देता है। यह

बात ध्यान में रखनी चाहिये कि जो कार्य किया जावे वह आत्मिक संतोष के लिये हो।

स्वगुण प्रशंसा में कोई लाभ नहीं

स्तुतैः श्रुतैर्वाप्यपरैर्निरीक्षितैर्गुणस्तवात्मन् सुकृतैर्न कश्चन्।
फलन्ति नैव प्रकटीकृतैर्भुवो, द्रुमा हि मूलैर्निपतन्त्यपि त्वधः ॥१०॥

अर्थ :—तेरे गुणों अथवा सुकृत्यों की दूसरे लोग स्तुति करें अथवा सुनें या तेरे अच्छे कामों को दूसरे मनुष्य देखें, इससे हे चेतन ! तुझे कुछ भी लाभ नहीं। जिस प्रकार वृक्ष को जड़ से उखाड़ दिया जाय तो उस वृक्ष में फल नहीं आते, वह तो जमीन पर गिर जाता है। उसी प्रकार ये अच्छे काम भी नष्ट हो जाते हैं।

भावार्थ :—जिस वृक्ष की जड़ की मिट्टी हटादी जाती है वह वृक्ष तो भूमि पर गिर जाता है। उस पर फलों को देखना वृथा है। उसी प्रकार दूसरों को दिखा कर किया गया सुकृत नष्ट हो जाता है, उस सुकृत के फल नहीं मिल सकते।

वास्तव में अपने गुणों की दूसरा व्यक्ति प्रशंसा करे इस भावना से कोई लाभ नहीं। मनुष्य को कीर्ति व मान की इच्छा करना भी अज्ञानता है। बुद्धिमान् मनुष्य कीर्ति की अभिलाषा कभी नहीं करता। कीति तो उसे स्वयं ही मिल जाती है।

गुण के विषय में मात्सर्य करने की गति

तपः क्रियावश्यकदानपूजनैः, शिवं न गन्ता गुणमत्सरी जनः।
अपथ्यभोजी न निरामयो भवेद्रसायनैरप्यतुलैर्यदातुरः ॥११॥

अर्थ :—गुणों के विषय में ईर्ष्या करने वाला पुरुष यदि तपश्चर्या, आवश्यक क्रिया, दान और पूजा भी करे तो मोक्ष नहीं पाता। जिस प्रकार बीमार आदमी यदि अपथ्य भोजन करे तो कितनी ही दवा लेने पर भी वह कभी ठीक नहीं होता॥ ११॥

भावार्थ :—जिस प्रकार अपने किये सुकृत्य की स्तुति सुनना धर्म-

शुद्धि में मल स्वरूप है। इसी प्रकार पराये गुणों पर ईर्ष्या करना या छुपाना भी मल स्वरूप है। इसलिये ईर्ष्या करने वाला कितना भी धर्मकृत्य करे सब निष्फल है। जिस प्रकार यदि बीमार आदमी कुपथ्य खावे तो अच्छा रसायन भी उसे कुछ गुण नहीं करता। मात्सर्य धारण करने वाला पुरुष कभी मोक्ष नहीं पा सकता।

शुद्ध पुण्य अल्प हो तो भी अच्छा

मन्त्रप्रभारत्नरसायनादिनिदर्शनादल्पमपीह शुद्धम्।
दानार्चनावश्यकपौषधादि, महाफलं पुण्यमितोऽन्यथान्यत् ॥१२॥

अर्थ :—मन्त्र, प्रभा, रत्न, रसायन आदि दृष्टान्तों से (ज्ञात होता है) दान, पूजा, आवश्यक, पौषध आदि (धर्म क्रिया) बहुत थोड़ी भी क्यों न हो परन्तु यदि शुद्ध हो तो महान् फल देती है। इसके विपरीत यदि ये अशुद्ध हों तो मोक्ष रूपी फल की प्राप्ति नहीं होती ॥१२॥

भावार्थ :--उच्चारण की दृष्टि में मन्त्र छोटा होता है, पर उससे देव प्रसन्न हो जाते हैं। सूर्य आकार में छोटा दिखाई देता है, पर उसकी प्रभा संसार का अंधकार दूर कर देती है। रत्न छोटा होता है, पर बहुत कीमती होता है। रसायन थोड़ा होने पर भी बहुत गुण करता है। इसी प्रकार दान, पूजा, पौषध आदि धर्म अनुष्ठान चाहे थोड़े ही क्यों न हों पर यदि शुद्ध हों तो अत्यन्त लाभदायक होते हैं। अतः मनुष्य को कार्य की शुद्धता, सुन्दरता और तात्त्विकता की ओर ध्यान देना चाहिये।

Never look to the quantity of your action but pay particular attention to the quality thereof. अर्थात् यह देखना चाहिये कि कार्य कैसा किया, यह नहीं कि कितना किया। आवश्यक क्रिया करते समय बराबर अपने किये दुष्कृत्य पर पश्चात्ताप करना चाहिये और पौषध में भाव-शुद्धि करके समता लानी चाहिये तभी अपना बेड़ा पार होगा।

ऊपर की बात दृष्टान्त से समझाते हैं

दीपो यथाल्पोऽपि तमांसि हन्ति, लवोऽपि रोगान् हरते सुधायाः।
तृण्यां दहत्याशु कणोऽपि चाग्नेर्धर्मस्य लेशोऽप्यमलस्तथांहः ॥१३॥

अर्थ :—एक छोटा सा दीपक अंधकार को हटा देता है। अमृत की एक बूँद अनेक रोगों को मिटा देती है। अग्नि की एक चिनगारी भी खड्डे में भरी घास को भस्म कर देती है। इसी तरह धर्म का एक अंश भी यदि निर्मल हो तो पाप का नाश कर देता है ॥१३॥

भाव और उपयोग से रहित क्रिया—केवल काया क्लेश

भावोपयोगशून्याः, कुर्वन्नावश्यकीः क्रियाः सर्वाः।
देहक्लेशं लभसे, फलमाप्स्यसि नैव पुनरासाम् ॥१४॥

अर्थ :—भाव और उपयोग विना की गई सब आवश्यक क्रियाएँ केवल काया-क्लेश मात्र हैं। उनका फल तुझे मिलेगा नहीं ॥१४॥

विवेचन :—जिस प्रकार धर्म क्रिया करने में शुद्ध भाव की आवश्यकता है उसी प्रकार उपयोग अर्थात् विवेक की भी आवश्यकता है। इन दोनों के विना सब क्रियाएँ केवल काया-क्लेश मात्र हैं अर्थात् फल देने वाली नहीं हैं कहा भी है—

भाव विना दानादि का, जाणो अलूणो धान।
भाव रसांग मल्ये थके टूटे कर्म निदान ॥

विना भाव की क्रिया विना नमक के भोजन समान है। विना भाव से की गई क्रियाएँ कुछ फल नहीं देती-यह इस दृष्टान्त से समझाते हैं—वीर शालवीजी तथा श्रीकृष्णजी दोनों ने अट्ठारह हजार साधुओं को एक साथ वन्दना की। श्रीकृष्णजी ने भावयुक्त वन्दना की तो उनका सातवीं नारकी का बंध घटकर तीसरी नारकी का रह गया, परन्तु वीरशालवीजी ने विना भाव के वन्दना की तो कोई लाभ नहीं हुआ। उनको केवल काया-क्लेश हुआ। एक श्रावक पुत्र लोक दिखावे के

शुद्धि में मल स्वरूप है। इसी प्रकार पराये गुणों पर ईर्ष्या करना या छुपाना भी मल स्वरूप है। इसलिये ईर्ष्या करने वाला कितना भी धर्मकृत्य करे सब निष्फल है। जिस प्रकार यदि बीमार आदमी कुपथ्य खावे तो अच्छा रसायन भी उसे कुछ गुण नहीं करता। मात्सर्य धारण करने वाला पुरुष कभी मोक्ष नहीं पा सकता।

शुद्ध पुण्य अल्प हो तो भी अच्छा

मन्त्रप्रभारत्नरसायनादिनिदर्शनादल्पमपीह शुद्धम्।
दानार्चनावश्यकपौषधादि, महाफलं पुण्यमितोऽन्यथान्यत् ॥१२॥

अर्थ:—मन्त्र, प्रभा, रत्न, रसायन आदि दृष्टान्तों से (ज्ञात होता है) दान, पूजा, आवश्यक, पौषध आदि (धर्म क्रिया) बहुत थोड़ी भी क्यों न हो परन्तु यदि शुद्ध हो तो महान् फल देती है। इसके विपरीत यदि ये अशुद्ध हों तो मोक्ष रूपी फल की प्राप्ति नहीं होती ॥१२॥

भावार्थ:--उच्चारण की दृष्टि में मन्त्र छोटा होता है, पर उससे देव प्रसन्न हो जाते हैं। सूर्य आकार में छोटा दिखाई देता है, पर उसकी प्रभा संसार का अंधकार दूर कर देती है। रत्न छोटा होता है, पर बहुत कीमती होता है। रसायन थोड़ा होने पर भी बहुत गुण करता है। इसी प्रकार दान, पूजा, पौषध आदि धर्म अनुष्ठान चाहे थोड़े ही क्यों न हों पर यदि शुद्ध हों तो अत्यन्त लाभदायक होते हैं। अतः मनुष्य को कार्य की शुद्धता, सुन्दरता और तात्त्विकता की ओर ध्यान देना चाहिये।

Never look to the quantity of your action but pay particular attention to the quality thereof. अर्थात् यह देखना चाहिये कि कार्य कैसा किया, यह नहीं कि कितना किया। आवश्यक क्रिया करते समय बराबर अपने किये दुष्कृत्य पर पश्चात्ताप करना चाहिये और पौषध में भाव-शुद्धि करके समता लानी चाहिये तभी अपना बेड़ा पार होगा।

ऊपर की बात दृष्टान्त से समझाते हैं

दीपो यथाल्पोऽपि तमांसि हन्ति, लवोऽपि रोगान् हरते सुधायाः ।
तृण्यां दहत्याशु कणोऽपि चाग्ने र्धर्मस्य लेशोऽप्यमलस्तथांहः ॥१३॥

अर्थ :—एक छोटा सा दीपक अंधकार को हटा देता है। अमृत की एक बूँद अनेक रोगों को मिटा देती है। अग्नि की एक चिनगारी भी खड्डे में भरी घास को भस्म कर देती है। इसी तरह धर्म का एक अंश भी यदि निर्मल हो तो पाप का नाश कर देता है ॥१३॥

भाव और उपयोग से रहित क्रिया—केवल काया क्लेश

भावोपयोगशून्याः, कुर्वन्नावश्यकीः क्रियाः सर्वाः ।
देहक्लेशं लभसे, फलमाप्स्यसि नैव पुनरासाम् ॥१४॥

अर्थ :—भाव और उपयोग विना की गई सब आवश्यक क्रियाएँ केवल काया-क्लेश मात्र हैं। उनका फल तुझे मिलेगा नहीं ॥१४॥

विवेचन :—जिस प्रकार धर्म क्रिया करने में शुद्ध भाव की आवश्यकता है उसी प्रकार उपयोग अर्थात् विवेक की भी आवश्यकता है। इन दोनों के बिना सब क्रियाएँ केवल काया-क्लेश मात्र हैं अर्थात् फल देने वाली नहीं हैं कहा भी है—

भाव विना दानादि का, जाणो अलूणो धान ।
भाव रसांग मल्ये थके टूटे कर्म निदान ॥

विना भाव की क्रिया विना नमक के भोजन समान है। बिना भाव से की गई क्रियाएँ कुछ फल नहीं देतीं-यह इस दृष्टान्त से समझाते हैं—वीर शालवीजी तथा श्रीकृष्णजी दोनों ने अट्ठारह हजार साधुओं की एक साथ वन्दना की। श्रीकृष्णजी ने भावयुक्त वन्दना की तो उनका सातवीं नारकी का बंध घटकर तीसरी नारकी का रह गया, परन्तु वीरशालवीजी ने बिना भाव के वन्दना की तो कोई लाभ नहीं हुआ। इनको केवल काया-क्लेश हुआ। एक श्रावक पुत्र लोक दिखावे के

लिये मन्दिर में जाकर देव-दर्शन करता है और दूसरा बड़ी भाव भक्ति से भगवान् के दर्शन या भक्ति करता है इन दोनों में बहुत अन्तर है। दूसरा पुरुष देव-दर्शन कर कर्म निर्जरा करता है और आगे का रास्ता साफ करता है।

धर्म से कीर्ति, विद्या, लक्ष्मी, यश और पूर्ण शान्ति मिलती है। पर उसे इनकी इच्छा से नहीं करना चाहिये। धर्म-क्रिया जो भी की जावे शुद्ध भाव से युक्त होनी चाहिये न कि यश कीर्ति की इच्छा से। इससे सब प्रकार के सांसारिक सुख तथा मोक्ष सुख प्राप्त होते हैं।

धर्म प्राप्ति के अनेक साधन हैं। मेतार्य मुनि को सुनार ने मार डाला तो उसे राजा का भय हुआ इससे उसे तत्काल धर्म प्राप्त हुआ। सिंहगुफा-निवासी साधु ने स्थूलिभद्रजी से मात्सर्य किया तो उसे धर्म प्राप्त हुआ। सुहस्थि महाराज के प्रतिबोध किये हुए शिष्य दमनक को लोभ से धर्म प्राप्त हुआ। बाहुबलिजी को हट से धर्म प्राप्त हुआ। गौतम स्वामी व सिद्धसेन दिवाकर को अहंकार करने से धर्म प्राप्त हुआ। ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती को शृंगार से धर्म प्राप्त हुआ। गौतम स्वामी के प्रतिबोधित १५०३ शिष्यों को कौतुक से धर्म लाभ हुआ। इलापुत्र को विस्मय से, अभयकुमार और आर्द्रकुमार को व्यवहार से धर्म प्राप्त हुआ। जम्बूस्वामी, धनगिरि, बज्रस्वामी, प्रसन्नचन्द्र तथा चिलातीपुत्र को वैराग्य से धर्म की प्राप्ति हुई। इसी प्रकार गजसुकुमाल, वीरप्रभु, पार्श्वप्रभु, स्कंधमुनि आदि को क्षमा से धर्म प्राप्त हुआ, सुदर्शन सेठ, मल्लिप्रभु, नेमनाथजी, स्थूलिभद्रजी, सीता, द्रौपदी, राजिमति को शील से धर्म प्राप्त हुआ। इस प्रकार अनेक जीवों को किसी भी कारण से धर्म प्राप्त हो सकता है। धर्म-प्राप्ति के लिये किसी विशेष हेतु की जरूरत नहीं।

इस समस्त अधिकार में तीन बातें बताई हैं—

१. धर्म शुद्धि की आवश्यकता—प्रमाद, मात्सर्य आदि (श्लोक नं. २) में बताये हुए मल से बचना; यदि किसी कारण से मल आ जावे तो उसे हटाना।

२. स्वगुण प्रशंसा और मात्सर्य—धर्म को अशुद्ध करने के कारणों में ये दो मुख्य हैं। जिनमें ये दोष हैं वे धर्म प्राप्त नहीं कर सकते। अपनी प्रशंसा सुन मनुष्य बेभान हो जाता है और स्तुति करने वाले के वशीभूत हो जाता है। परन्तु स्तुति में कोई लाभ नहीं। स्तुति लायक आचरण करना तो अपना कर्त्तव्य है। इसलिये स्तुति सुनने की इच्छा भी नहीं करनी चाहिए। पराया धन, वैभव, सुख और कीर्ति देख ईर्ष्या करना हानिकारक है। ये सब वस्तुएँ तो पुण्याधीन हैं। दूसरे से द्वेष करना पुण्य का नाश करना है।

३. भावशुद्धि और उपयोग—प्रत्येक धर्म-कार्य में शुद्ध भाव और विवेक की जरूरत है। शुद्ध भाव और उपयोग से किया हुआ थोड़ा भी तप, जप और ध्यान बहुत फल देता है। बिना भाव के किया हुआ धर्म केवल काया-क्लेश है।

द्वादश अधिकार

देव, गुरु, धर्म-शुद्धि

शुद्ध धर्म को बतलाने वाले तथा समझाने वाले गुरु महाराज हैं और धर्म की प्ररूपणा करने वाले श्री तीर्थङ्कर महाराज हैं। उनकी आज्ञा को दृढ़ता से धारण कर उसके अनुसार व्यवहार करता हुआ या भावना को भावित करता हुआ मनुष्य तीर्थङ्कर के समान बन सकता है। इस काल में श्री तीर्थङ्कर-प्ररूपित धर्म को समझाने वाले गुरु महाराज हैं। अब गुरु महाराज कैसे होने चाहिये यहाँ उनके स्वरूप, तत्त्व, गुण आदि का वर्णन करते हैं।

गुरु तत्त्व की मुख्यता

तत्त्वेषु सर्वेषु गुरुः प्रधानं, हितार्थधर्मा हि तदुक्तिसाध्याः ।
श्रयंस्तमेवेत्यपरीक्ष्य मूढ, धर्मप्रयासान् कुरुषे वृथैव ॥१॥

अर्थः—सब तत्त्वों में गुरु तत्त्व मुख्य है। क्योंकि आत्महित के लिये जो जो धर्म करना है वह सब उनके बताने पर साधे जा सकते हैं। हे मूर्ख! उनकी परीक्षा किये बिना यदि तू उनका आश्रय लेगा तो तेरे धर्म और सब प्रयास निष्फल हो जावेंगे ॥१॥

भावार्थः—देव और धर्म का सच्चा ज्ञान कराने वाले गुरु महाराज हैं। अमुक कार्य करना या नहीं करना अमुक रास्ते जाना या नहीं जाना तथा पेयापेय, भक्ष्या-भक्ष्य का ज्ञान गुरु महाराज ही बताते हैं। इसीलिये गुरु-तत्त्व मुख्य है। इसी कारण गुरु-तत्त्व सब तत्त्वों में मुख्य है। इसी कारण विशेष गुणी होने पर भी सिद्ध भगवान् ने नमस्कार मन्त्र में पहले अरिहन्त भगवान् को नमस्कार किया है।

अब प्रश्न यह है कि ऐसे गुरु महाराज को कैसे पहचाना जाय।

यदि अयोग्य मनुष्य गुरु का स्थान ले ले तो आश्रय लेने वाला संसार-समुद्र में डूब जावेगा। इसलिये गुरु की योग्यता जानना आवश्यक है। यदि परीक्षा नहीं की जा सके तो कम से कम यह देख लेना चाहिये कि वे काँचन और कामिनी के त्यागी तो हैं। तपस्या, ज्ञान, ध्यान, वचन-गुप्ति और सात्विक वृत्ति भी यदि गुरु में हों तो सद्गुरु मिल गया ऐसा समझना चाहिए। इसलिये काञ्चन और कामिनी के त्यागी गुरु को होना तो अत्यावशक है।

सदोष गुरु का बताया धर्म भी सदोष

भवी न धर्मैरविधिप्रयुक्तैर्गमी शिवं येषु गुरुर्न शुद्धः।
रोगी हि कल्यो न रसायनैस्तैर्येषां प्रयोक्ता भिषगेव मूढः ॥२॥

अर्थः—जहाँ धर्म बताने वाले गुरु ही शुद्ध नहीं वहां अविधि से किया हुआ धर्म प्राणी को मोक्ष तक नहीं ले जा सकता। यदि रसायन खिलाने वाला वैद्य ही मूर्ख हो तो औषधि खाने वाला प्राणी नीरोग नहीं हो सकता ॥२॥

भावार्थः—जैसे रास्ता न जानने वाला गाड़ीवान अपने गन्तव्य स्थान पर नहीं पहुँच सकता उसी प्रकार शुद्ध धर्म को न जानने वाले गुरु के पीछे चलने वाले मनुष्य संसार-समुद्र को पार नहीं कर सकते। यह साधारण मनुष्यों के भी अनुभव से सिद्ध है कि जो वैद्य रसायन की जानकारी नहीं रखते यदि वे रोगी को उलटी सुलटी मनमानी दवा दे देते हैं तो वे रोगी को बड़ी हानि पहुँचाते हैं। यदि रसायन योग्य रीति से दी जाती है तो रोगी स्वस्थ होने के बाद हृष्ट पुष्ट होकर सुखी हो जाता है। इसी प्रकार अज्ञानी गुरु की बताई धर्म क्रिया भी मुक्ति दिलाने के स्थान पर संसार-वृद्धि का कारण हो जाती है।

कुगुरु स्वयं डूबते हैं और दूसरों को भी डुबाते हैं

समाश्रितस्तारकबुद्धितो यो, यस्यास्त्यहो मज्जयिता स एव।
आघं तरीता विषमं कथं स, तथैव जन्तुः कुगुरोर्भवाब्धिम् ॥३॥

अर्थः—यह पुरुष तारने में समर्थ है ऐसी बुद्धि से जिसका आश्रय

लिया जावे और वही आश्रय देने वाला आश्रय लेने वाले को डुबावे तो वह प्राणी प्रवाह में डूबने से कैसे बच सकता है? इसी तरह संसार समुद्र में डूबते प्राणी को कुगुरु कैसे बचा सकता है? ॥३॥

भावार्थः—जिस जहाज के कप्तान के भरोसे लोग जहाज में बैठते हैं यदि वही कप्तान असावधान रहे तो वह स्वयं भी डूबता है और आश्रय लेने वालों को भी डुबा देता है। संसार भी एक समुद्र है जिसमें गुरु एक कप्तान है, उसके आश्रय से धर्म रूपी नौका में प्रजाजन बैठते हैं। यदि कप्तान अयोग्य या अनुचित आचरण करे तो जहाज के डूबने पर वह स्वयं तो डूबेगा ही पर सवारों को भी ले डूबेगा। इसीलिये गुरु की परीक्षा करना आवश्यक है।

शुद्ध देव, गुरु और धर्म आराधन का उपदेश

गजाश्वपोतोक्षरथान् यथेष्टपदाप्तये भद्र निजान् परान् वा।
भजन्ति विज्ञाः सुगुणान् भजैवं, शिवाय शुद्धान् गुरुदेवधर्मान् ॥४॥

अर्थः—हे भद्र! जिस प्रकार समझदार आदमी अपने इच्छित स्थान पर पहुँचने के लिये अपने अथवा दूसरे के हाथी, घोड़ा, गाड़ी, जहाज, बैल, रथ आदि साधनों की अच्छाई को भली भाँति परख लेता है। इसी तरह मोक्ष जाने के लिये शुद्ध देव, गुरु और धर्म को परख लेना चाहिये॥४॥

भावार्थः—मोक्ष नगर जाने के लिये देव, गुरु और धर्म वाहन स्वरूप हैं। मनुष्य परगाँव जाने के लिये अच्छे से अच्छा वाहन अपनाते हैं। मोक्ष पहुँचने के लिये भी अठारह दोष रहित देव, पाँच महाव्रत धारण करने वाले गुरु और केवली भगवान्-भाषित धर्म का आश्रय लेने वाले व्यक्ति को अपनाना चाहिये। यदि इस धर्मरथ के हाँकने वाले पंच महाव्रतधारी गुरु महाराज मिल जाते हैं तो मोक्ष जल्दी प्राप्त हो जायगा इसमें सन्देह नहीं। इसलिये गुरु की परीक्षा लेकर उसकी आज्ञा के अनुसार वर्तना चाहिये। गुरु, देव और धर्म शुद्धि का होना परमावश्यक है।

कुगुरु के उपदेश से किया धर्म भी निष्फल है

फलाद्वृथाः स्युः कुगुरूपदेशतः कृता हि धर्मार्थमपीह सूद्यमाः ।
तद्दृष्टिरागं परिमुच्य भद्र हे, गुरुं विशुद्धं भज चेद्धितार्थ्यसि ॥५॥

अर्थः—संसार यात्रा में कुगुरु के उपदेश से धर्म अर्जन के लिये किये गये बड़े प्रयास भी फल की दृष्टि से वृथा हैं। इसलिये हे भाई ! यदि तू अपना हित चाहता है तो राग दृष्टि छोड़कर अत्यन्त शुद्ध गुरु की सेवा कर ॥५॥

विवेचनः—सारा संसार दृष्टिराग से ग्रसित है। मनुष्य जहाँ जन्म लेता है वहां का धर्म अथवा गुरु उसे मान्य होता है। वह धर्म अथवा गुरु जो चाहे पापमय हो, व्यभिचारयुक्त हो या अहिंसा धर्म विरोधी हो तब भी संसार उसे सबसे अच्छा मानता है। इसी को दृष्टिराग कहते हैं। ऐसे गुरु के उपदेश से जो पुरुष धर्म-आचरण करता है वह सब निष्फल है। इसलिये दृष्टिराग को छोड़कर शुद्ध देव, गुरु और धर्म को अंगीकार करना चाहिये। दृष्टिराग मिथ्यात्वजन्य है। राग तो किसी से नहीं करना चाहिये। भगवान् महावीर में गौतम स्वामी का राग था इसलिये उनका ज्ञान रुका रहा। अतः राग सदा त्याज्य है। यदि राग किये बिना नहीं रहा जाय तो गीतार्थ गुरु पर राग करना चाहिये। मनुष्य का यदि त्यागी गुरु पर राग हो तो गुरु उसे धीरे २ मार्ग पर ले आता है। राग तो गुणों पर करना चाहिये। गुण पर राग करने से अनुकरण करने वाले पुरुष के गुण स्वयं में आ जाते है।

जैन धर्म दृष्टिराग को बुरा समझता है और अंधश्रद्धा का उपदेश कभी नहीं देता। वह कहता है कि धर्म को सुनो, समझो और विचार करो, खोज करो, मनन करो और न्यायशास्त्र के सामान्य ज्ञान से तुलना करो। फिर यदि इसमें कोई विरोधभाव दिखाई दे तो उसका आदर करो। उत्तमता तर्क बुद्धि पर अवलम्बित है। "अतीन्द्रियास्तु ये भावा, न तांस्तर्केण योजयेत्" अर्थात् अतीन्द्रिय विषयों में तर्क नहीं चलता, इस सिद्धांत को नहीं मानना चाहिये। इसलिये आँख बंद कर मान लेना चाहिये, ऐसा नहीं

कहा। यहाँ तो प्रत्येक बात तर्क पर अवलम्बित है और इन तर्कों पर आधारित विषयों के समझने के लिये ज्ञानी गुरु महाराज की आवश्यकता है।

वीर भगवान् को विनति-शासन में लुटेरों का जोर

न्यंस्ता मुक्तिपथस्य वाहकतया श्रीवीर ये प्राक् त्वया
लुंटाकास्त्वदृतेऽभवन् वहुतरास्त्वच्छासने ते कलौ।
बिभ्राणा यतिनाम तत्तनुधियां मुष्णन्ति पुण्यश्रियः
पुत्कुर्मः किमराजके ह्यपि तलारक्षा न किं दस्यवः ॥६॥

अर्थः—हे वीर परमात्मा ! आपने जिनको मोक्ष मार्ग चलाने के लिये सार्थवाह के रूप में स्थापित किया था, वे ही इस कलिकाल में आपकी अनुपस्थिति में आपके शासन के मोटे लुटेरे हो गये। वे यति नाम धारण करके अल्प बुद्धि प्राणियों की पुण्य लक्ष्मी लूटते हैं अब हम किसको पुकारें। बिना राजा के राज्य में कोतवाल भी क्या चोर नहीं होता ॥६॥

भावार्थः—आज से पाँच सौ वर्ष पहले कहे हुए मुनि श्री मुनिसुन्दरजी महाराज के वचन आज भी सत्य सिद्ध हो रहे हैं। इस दृष्टिराग से बहुत से जीवों का पतन हुआ है। यह बिगाड़ महा कर्मबंध से हुआ है। बेचारे यति, गुराजी आदि शिथिलाचारी शासन का बिगाड़ करते ही हैं, परन्तु जहाँ साधु समाज से शान्ति की आशा है वहां भी खराबी बढ़ती जाती है। भगवान् ने सुधर्मा स्वामी को जिन-शासन की बागडोर सौंपी थी परन्तु उनके पाट परंपरा के साधु उस सुन्दर शासन को चला नहीं सके। वे ही लोग अब लुटेरे बन गये हैं। लोगों की पुण्य लक्ष्मी को लूट कर उन्हें संसार-समुद्र में डुबोते हैं। ऐसी शोचनीय अवस्था में अब हम किसकी पुकार करें ?

अशुद्ध देव, गुरु, धर्म से भविष्य में हानि

ाद्यस्यशुद्धे गुरुदेवधर्मैर्धिग् दृष्टिरागेण गुणानपेक्षः
अमुत्र शोचिष्यसि तत्फले तु, कुपथ्यभोजीव महामयार्त्तः ॥७॥

अर्थः—दृष्टि राग के कारण तू गुरु की जाँच किये बिना अशुद्ध देव, गुरु, धर्म की ओर प्रेम रत रहता है इसलिये तुझे धिक्कार है। जिस प्रकार कुपथ्य भोजन करने वाला बहुत दुःख पाता है और परेशान होता है, उसी तरह आगामी भव में तू उस (कुगुरु, कुदेव, कुधर्म) का फल प्राप्त कर दुखी होगा ॥७॥

भावार्थ :—गुणवान् गुरु के आश्रय की आवश्यकता पहले बता ही दी है। ऐसे गुणवान् गुरु को नमस्कार करना चाहिये और उनके बताए हुए देव और धर्म का आदर करना चाहिये। परन्तु जो मनुष्य गुरु के गुणों की जाँच नहीं करता और पौद्गलिक पदार्थों जैसे [पुत्र, धन अथवा रोग-नाश] की इच्छा से मिथ्यात्व जन्य दृष्टिराग से विषयी गुरु की सेवा करता है और संसार बढ़ाने वाला अधर्माचरण करता है वह प्राणी भविष्य में अवश्य पछतायगा। जीव प्रथम तो संसार-रोग से दुःखी है फिर कुगुरु के प्रसंग से अयोग्य आचरण रूप कुपथ्य करके और कुगुरु के अयोग्य आचरण की पुष्टि करके रोग को और भी अधिक बढ़ाता है। वह संसार को घटाने के बदले उसे बढ़ाता है। इसलिये गुरु की परीक्षा कर उसका मान करना चाहिये। यदि भाग्यवश सुगुरु मिल गया तो सुदेव और सुधर्म तो मिला हुआ ही है।

अशुद्ध गुरु मोक्ष नहीं दे सकता

नाम्रं सुसिक्तोऽपि ददाति निम्बकः पुष्टा रसैर्वन्ध्यगवी पयो न च
दुःस्थो नृपो नैव सुसेवितः श्रियं, धर्मं शिवं वा कुगुरुर्न संश्रितः ॥८॥

अर्थः—अच्छी तरह सींचने पर भी नीम का वृक्ष आम के मीठे फल नहीं दे सकता। गुड़, घी, तेल आदि खिला कर पुष्ट की हुई वंध्या गाय दूध नहीं दे सकती। मर्यादा-आचरणहीन राजा की सेवा करने पर भी पुरुष किसी को लक्ष्मी देकर निहाल नहीं कर सकता। इसी प्रकार कुगुरु का आश्रय लेने से शुद्ध धर्म और मोक्ष नहीं मिल सकता ॥८॥

तात्त्विक हित करने वाली वस्तु

कुलं न जातिः पितरौ गणो वा, विद्या च बन्धुः स्वगुरुर्धनं वा।
हिताय जन्तोर्न परं च किञ्चित्, किन्त्वादृताः सद्गुरुदेवधर्माः ॥९

अर्थः—कुल, जाति, माता-पिता, महाजन, विद्या, सगा-सम्बन्धी कुलगुरु अथवा धन या अन्य कोई वस्तु प्राणी का हित नहीं कर सकती। परन्तु शुद्ध भावना से आराधन किया हुआ शुद्ध देव, गुरु और धर्म ही मनुष्य का कल्याण करता है ॥९॥

भावार्थः—उच्च कुल, जाति, विद्या, धन आदि प्राप्त कर लेने पर भी कोई पुरुष अन्य जीवों का हित नहीं कर सकता। पुत्र कलत्र आदि संसारी चीजें ज्यों ज्यों बढ़ती हैं त्यों त्यों यह जीव संसार के जाल में फँसता जाता है, यह भव-चक्र किसी भी तरह कम नहीं होता। जीव अनादि काल से इन संसारी वस्तुओं में मस्त होकर दुःख परंपरा प्राप्त करता आया है। शास्त्रकार कहते हैं कि यदि कोई पुरुष इस दुःख परम्परा से बचना चाहता है तो उसे शुद्ध देव, गुरु तथा धर्म की आराधना करनी चाहिये। इससे पूर्व किए हुए पाप क्षीण होंगे और अन्त में मोक्ष प्राप्त होगा।

जो धर्म में लगावे वे ही वास्तविक माता पिता

माता पिता स्वः सुगुरुश्च तत्त्वात्प्रबोध्य यो योजति शुद्धधर्मे।
न तत्समोऽरिः क्षिपते भवाब्धौ, यो धर्मविघ्नादिकृतेश्च जीवम् ॥१०

अर्थः—जो धर्म का ज्ञान दे और शुद्ध धर्म में लगावे वे ही यथार्थ में सच्चे माता-पिता हैं, वही वास्तव में अपना हितैषी है और उन्हीं को सुगुरु समझना चाहिये। पर जो इस जीव को धर्म में अन्तराय देकर संसार-समुद्र में ढकेलता है उसके बराबर कोई शत्रु नहीं ॥१०॥

भावार्थः—जो जीवों को दुःख से बचावे और उन्हें पाल पोस कर बड़ा करे वे ही माता-पिता हैं। जो अपने अनुयायी जनों को नरक-निगोद की दुर्गति के दुःखों से बचावे और शुद्ध धर्म बतावें वे ही रु महाराज हैं, वे ही माता-पिता तुल्य हैं। जो इससे उलटा

आचरण करें अर्थात् धर्म में अन्तराय देवे वह दुश्मन के समान है। जब मनुष्य को वैराग्य होता है तो वह आत्मोन्नति के लिये अनेक उपाय करता है। इसके लिये वह सब सांसारिक नाते तोड़ता है। यदि ऐसे समय उसके माता पिता स्नेहवश उसे रोकें तो सूरि महाराज कहते हैं कि वे दुश्मन का काम करते हैं।

सम्पत्ति का कारण

दाक्षिण्यलज्जे गुरुदेवपूजा, पित्रादिभक्तिः सुकृताभिलाषः।
परोपकारव्यवहारशुद्धी, नृणामिहामुत्र च सम्पदे स्युः ॥११॥

अर्थः—दाक्षिण्य, लज्जालुपन, गुरु और देव की पूजा, माँ-बाप आदि पुण्यात्माओं की भक्ति, अच्छे काम करने की अभिलाषा, परोपकार और व्यवहार शुद्धि मनुष्य को इस भव में और परभव में सम्पत्ति देती है ॥११॥

भावार्थः—

(१) दाक्षिण्य—विशाल हृदय धारण करना और मन की सरलता (निष्कपटता)।

(२) लज्जालुपन—निकम्मी स्वतन्त्रता का नाश और विनय गुण की प्राप्ति (यह गुण स्त्रियों का भूषण है) पाप कर्म रोकने वाला, यह स्त्री पुरुष दोनों के लिये अतिशय लाभदायक गुण है।

(३) गुरुदेव पूजा—द्रव्य और भाव से सब जीवों को अवलम्बन की आवश्यकता होती है। गुरु के वचनानुसार वर्तन करना द्रव्य व द्रव्य-पूजा है। और हृदय अथवा चक्षु के सामने साकार वृत्ति की छाया में निराकार वृत्ति को प्राप्त भगवान् का ध्यान करना यह दोनों भावनाएँ जीव को अवलम्बन के अतिरिक्त और भी महालाभ देने वाली हैं।

(४) पित्रादिभक्ति—माता, पिता तथा वृद्धों की सेवा करना उनको सुख पहुँचाना पितृ-भक्ति।

(५) सुकृताभिलाषी :—अच्छे कार्य करने का पहले विचार होता है

और फिर कार्य होता है। इसलिये सदा अच्छे विचार करने चाहिये। यदि अच्छे विचार करने पर कार्य करने का अवसर न भी आवे तब भी सुविचार करना नहीं छोड़ना चाहिये। कारण इस जन्म में अवसर नहीं आया तो इस शुभ भावना से अगले जन्म में आ सकता है।

(६) परोपकार—मनुष्य को केवल अपना भला नहीं सोचना चाहिये। यदि पुण्य-संयोग से शरीर, पुत्र, धन, स्त्री आदि का सुख मिला है तो इतने में संतोष नहीं मानना चाहिये। उसे अपनी लक्ष्मी, ज्ञान, और शक्ति का उपयोग देश, जाति या धर्म के उत्थान में करना चाहिये।

(७) व्यवहार शुद्धि—श्रावक के लिए इन सब में यह गुण सर्वप्रथम अथवा अनिवार्य है।

ये उपरोक्त बातें बहुत आवश्यक हैं और ध्यान देने योग्य हैं। शुभ विचार और शुभ वर्तन से ही शुभ कर्म बँधते हैं। जैसा बंध होता है वैसा ही उदय होता है और वैसा ही सुख-दुःख इस भव में या परभव में प्राप्त होता है। उपरोक्त गुणों में से एक भी गुण हो तो बहुत लाभदायक है और यदि सभी गुण हों तो बहुत श्रेष्ठ फल की प्राप्ति होती है। इन गुणों में एक बड़ा लाभ यह भी है कि इन गुणों का आदर करने से मन प्रसन्न होता है।

विपत्ति के कारण

जिनेष्वभक्तिर्यमिनामवज्ञा, कर्मस्वनौचित्यमधर्मसङ्गः।
पित्राद्युपेक्षा परवञ्चनं च, सृजन्ति पुंसां विपदः समन्तात् ॥१२॥

अर्थः—जिनेश्वर भगवान् की अभक्ति (आशातना), साधुओं का अविनय, व्यापारादि में अनुचित प्रवृत्ति, अधर्मी की संगति, माँ बाप की सेवा करने में असावधानी और दूसरों को ठगना ये सब प्राणी के लिये चारों ओर से आपत्ति उत्पन्न करते हैं ॥१२॥

भावार्थ :—

(१) जिनेश्वर की अभक्ति :—राग-द्वेष रहित सब कर्मों का नाश

करने वाले जिनेश्वर भगवान् की तरफ अभक्ति—उनके वचन नहीं मानना—उनके साकार रूप का अनादर अथवा किसी भी तरह अनादर करना यह आशातना है।

(२) गुरु महाराज की अवज्ञा:—गुरु महाराज शुद्ध धर्म का मार्ग बताने वाले हैं। उनका विनय करना चाहिये। उनके वचन का आदर करना चाहिये। उनका अनादर नहीं करना चाहिये।

(३) कर्म में अनौचित्य :—कोई भी अनुचित कार्य नहीं करना, जैसे व्यापार में झूठ बोलना, अशुद्ध व्यवहार करना, अप्रामाणिक भाषण व आचरण नहीं करना।

(४) अधर्म संग :—धर्म की जाँच कर उसके अनुसार वर्तना और इसके विरुद्ध कार्य करना अधर्म संग।

(५) पिता आदि का अनादर :—पिता-माता का अविनय तथा सेवा नहीं करना।

(६) परवंचन :—दूसरों को धोखा देना

ये उपरोक्त सभी बातें इस भव और पर भव में विपत्ति का कारण हैं।

परभव में सुख के लिये पुण्य धन

भक्त्यैव नार्चसि जिनं सुगुरोश्च धर्मं,
नाकर्णयस्यविरतं विरतीर्न धत्से ।
सार्थं निरर्थमपि च प्रचिनोष्यघानि,
मूल्येन केन तदमुत्र समीहसे शम् ॥१३॥

अर्थ :—हे भाई । तू भक्ति से श्री जिनेश्वर भगवान् की पूजा नहीं करता इसी प्रकार सद्गुरु महाराज की सेवा नहीं करता, निरन्तर धर्म श्रवण भी नहीं करता, विरति (पाप से पीछा हटना) पच्चक्खान (त्याग के व्रत) नहीं करता और प्रयोजन से अथवा बिना प्रयोजन पाप की पुष्टि करता है तो बता कि तूने अगले भव में सुख प्राप्ति के लिये कौन सा पुण्य प्राप्त किया है ? ॥१३॥

भावार्थ :—यह जीव शुद्ध गुरु, देव और धर्म की आराधना नहीं करता, इन्द्रिय-दमन नहीं करता, बिना कारण पाप-संचय करता है, फिर भी सुख की इच्छा करता है। तो हे जीव ! बता कि तूने कौनसा पुण्य-संचय किया है जिसके बदले तुझे अगले भव में सुख मिलेगा ?

मोक्ष प्राप्ति की इच्छा वालों को इन नियमों का ध्यान रखना चाहिये।

१. जिनेश्वर भगवान् का भक्तिपूर्वक पूजन करना।

२. सद्गुरु की सेवा करना, धर्म-श्रवण करना।

३. स्थूल विषयों से दूर रहना; जितना हो सके उतना उनका त्याग करना।

४. पाप कार्यों से सदा दूर रहना।

सुगुरु सिंह और कुगुरु श्याल (गीदड़)

चतुष्पदैः सिंह इव स्वजात्यैर्मिलन्निमांस्तारयतीह कश्चित्।
सहैव तैर्मज्जति कोऽपि दुर्गे, शृगालवच्चेत्यमिलन् वरं सः ॥१४॥

अर्थ :—जिस प्रकार सिंह ने अपनी जाति के प्राणियों को एक साथ तार दिया इसी रीति से सुगुरु भी जाति भाइयों (भव्य पंचेन्द्रियों) को एक साथ भव-समुद्र से तार देते हैं। जिस प्रकार गीदड़ अपने जाति भाइयों को अपने साथ ले डूब कर नष्ट हो जाता है उसी प्रकार कुगुरु भी अपने साथ सब जीवों को लेकर अनन्त भव-सागर में लेकर डूब जाता है। इसलिये किसी भक्त को गीदड़ के समान कुगुरु नहीं मिले तो उसका सौभाग्य है ॥१४॥

विवेचन :—जो सुगुरु जीव को सदुपदेश द्वारा संसार से विरक्त कर संसार से मुक्त करा देता है वह गुरु सिंह के समान है। इसकी कथा इस प्रकार है:—जंगल के प्राणियों ने एक सिंह को अपना राजा बनाया। एक समय उस जंगल में आग लग गई जिससे जंगल के जीवों को बचने का कोई उपाय नहीं सूझा। सब पशुओं ने मिलकर अपने राजा सिंह के पास जाकर बचाने की प्रार्थना की। सिंह सब पशुओं को साथ ले नदी के किनारे गया और सब पशुओं को समझाया कि वे सब एक दूसरे की पूँछ पकड़ कर उसकी (सिंह की)

पूँछ पकड़ लें। सिंह एक छलाँग में नदी पार करेगा तो सब पशु भी एक दूसरे के सहारे उसके साथ नदी पार पहुँच सकेंगे और बच जावेंगे। निदान सब पशुओं ने ऐसा ही किया और सब नदी पार कर बच गये। इसी तरह सुगुरु महाराज भी अपनी चिन्ता न करके संसारी जीव को तार देते हैं। परन्तु कुगुरु ऐसा नहीं कर सकता, क्योंकि वह तो शृगाल की तरह है। शृगाल ने भी ऐसे संकट के समय सब जीवों को अपनी पूँछ का सहारा देकर तारने के हेतु नदी पार करने को छलाँग मारी पर वह नदी की बीच धार में गिर गया और डूब गया। साथ में अपना सहारा लेने वाले अन्य जीवों को भी ले डूबा। जब कुगुरु में इतनी शक्ति नहीं होती कि वह अपने को तारे तो वह दूसरों को कैसे तार सकता है? अतः कुगुरु से तो दूर ही रहना हितकर है।

जो सुगुरु का योग होने पर भी प्रमाद करे वह निर्भागी है

पूर्णे तटाके तृषितः सदैव, भृतेऽपि गेहे क्षुधितः स मूढः।
कल्पद्रुमे सत्यपि ही दरिद्रो, गुर्वादियोगेऽपि हि यः प्रमादी॥१५॥

अर्थ:—गुरु महाराज की योगवाई होते हुए भी जो प्राणी प्रमाद करे वह पानी से भरे तालाब के पास पहुँच कर भी प्यासा रहता है। धन धान्य से भरपूर घर होने पर भी वह मूर्ख भूखा है, और अपने पास कल्पवृक्ष होने पर भी दरिद्री है।

देव गुरु धर्म ऊपर अंतरंग प्रीति बिना जन्म व्यर्थ है

न धर्मचिन्ता गुरुदेवभक्तिर्येषां न वैराग्यलवोऽपि चित्ते ।
तेषां प्रसूक्लेशफलः पशूनामिवोद्भवः स्यादुदरम्भरीणाम् ॥१६॥

अर्थ :—जिस प्राणी को धर्म की चिन्ता नहीं, जिसके चित्त में गुरुदेव की ओर भक्ति और वैराग्य का अंश मात्र भी नहीं ऐसे मनुष्य का जन्म पेट भराऊ पशु की तरह केवल माता को दुःख देने वाला ही हुआ ॥१६॥

भावार्थ :—मैं कौन हूँ, मेरा क्या कर्तव्य है, मैंने अपना कर्त्तव्य निबाहने के लिये दिन में क्या किया, मैं कहाँ तक सफल हुआ और भविष्य में मुझे अपना कर्त्तव्य किस तरह निबाहना चाहिये, इस प्रकार की चिन्ता करना धर्म चिन्ता है और अच्छी तरह परीक्षा करके माने हुए गुरु महाराज के बताये देव, तथा धर्म पर पूर्ण श्रद्धा रख कर बिना आडम्बर के अन्तःकरण से सेवा करना—देव या गुरु भक्ति है। इस संसार के सब पदार्थ अनित्य हैं—पौद्गलिक हैं—केवल यह जीव ही निरंजन और निर्लेप है। अनन्त ज्ञान और दर्शन चारित्र रूप हैं। यह जो रूप हम देखते हैं वह विकार रूप है, कर्म जन्य है, यह अपनी शुद्ध दशा से बिलकुल विपरीत है, ऐसा समझकर पौद्गलिक भाव को त्याग कर आत्मिक भाव को आदर देना वैराग्य भाव है। ऐसा वैराग्यभाव जिसके हृदय में नहीं समा सका वह माता-पिता को अपने जन्म से कष्ट ही देता है।

प्रत्येक प्राणी में धर्म-चिन्ता, गुरु-भक्ति, और वैराग्य भाव अवश्य होना चाहिये। जब ये तीनों भाव मनुष्य के हृदय में वासित हो जाते हैं तो समझना चाहिये कि संसार-चक्र का अन्त निकट ही है। यदि ये भाव केवल दिखावे के लिये हों तो उसका यह जन्म केवल उदर-पूर्ति के लिये है और माता को प्रसव-पीड़ा देने के लिए ही हुआ है।

देव तथा संघ के कार्य में द्रव्य व्यय

न देवकार्ये न च संघकार्ये, येषां धनं नश्वरमाशु तेषाम् ।
तदर्जनाद्यैर्वृजिनैर्भवान्धौ, पतिष्यतां किं त्ववलम्बनं स्यात् ॥१७॥

अर्थ :—धन एक दम नाशवन्त है। यह पैसा जिनके पास हो वे इसे देव-कार्य अथवा संघ के कार्य में नहीं लगाते हैं तो उनको उस धन के संचय करने में जो पाप हुआ है इस कारण संसार-समुद्र में डूबते हुए उनकी रक्षा करने वाला कौन है ? ॥१७॥

भावार्थ :—धन प्राप्ति के लिये मनुष्य क्या क्या पाप करता है यह सर्वविदित है। इसका विचार धन-ममत्व-मोचन अधिकार में हो चुका है। यह धन अस्थिर है, लाखों रुपया क्षण में नष्ट हो जाता है। यह प्रत्यक्ष है कि जिस पैसे की प्राप्ति में अनेक आश्रव करने पड़ते हैं। झूठ-सच बोलना पड़ता है समय बिताना या अन्याय भी करना पड़ता है। ऐसे प्राप्त धन को यदि धर्म में नहीं लगाया जावे तो संसार-समुद्र में डूबते को कौन बचा सकता है ? इसलिये धन को शुभ कार्य [जीर्णोद्धार, ज्ञानप्रचार, शासनोद्धार, देवपूजा, प्रतिष्ठा, तीर्थयात्रा आदि] में लगाना चाहिये। इसी तरह धर्मीभाई की सेवा तथा धार्मिक पढ़ाई में लगाया जावे तो बहुत लाभ हो।

इस प्रकार देव-गुरु-धर्म का अधिकार समाप्त हुआ। इसमें गुरुत्व की महत्ता बताई और सद्गुरु के सत्संग से अनेक लाभ होते हैं यह बताया। गुरु चार प्रकार के होते हैं (१) आप तरे और आश्रय लेने वाले को तारे (२) आप तिरे और आश्रित को डुबोवे ऐसे गुरु कम होते हैं (३) स्वयं डूबे परन्तु आश्रय लेने वाले को तिरावे इस श्रेणी में अभव्यादि का समावेश होता है। इनके मन में श्रद्धा नहीं होती, केवल लोकदिखाऊ व्यवहार होता है। मन में विषय-कषाय होता है ऐसे गुरुओं का उपदेश शुद्ध अन्तःकरण से न निकला हुआ होने के कारण उत्तम फलदायक नहीं होता। कपटी-मायावी गुरु भी इसी श्रेणी में है। (४) आप डूबे और आश्रय लेने वाले को भी ले डूबे, ऐसे गुरु पत्थर समान हैं। ये शिथिलाचारी और भ्रष्टाचारी होते हैं। शास्त्रों में सुगुरु की बड़ी महिमा है और कपटी निर्गुणी कषायी गुरु को तो दूर से ही नमस्कार करने का विधान है। महाकवि कबीर ने भी ऐसा ही कहा है :—

गुरु गोविन्द दोनों खड़े काके लागूँ पाँय।
बलिहारी गुरु देव की गोविन्द दियो बताय ॥

—:०:—

१. मुनि को पाँच प्रकार का स्वाध्याय नित्य करना चाहिए— वाँचना, पृच्छना, परावर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा।

२. पाँच समिति और तीन गुप्ति ये प्रवचनमाता कहलाती है, यह मुनिपने का विशेष चिन्ह है।

पाँच समिति :—

(१) ईर्या समिति—जीव रहित मार्ग देख कर चलना।

(२) भाषा समिति—निरवद्य, सत्य, हितकारी वचन बोलना।

(३) एषणा समिति—बयालीस दोष रहित अन्न-जल लेना।

(४) आदान भंडमत्त निक्षेपणा समिति—किसी भी वस्तु को निर्जीव स्थान देखकर डालना।

(५) परिष्ठापनिका समिति—मल-मूत्र को जीव-रहित स्थान पर डालना।

तीन गुप्ति :—

(१) मनोगुप्ति —मन में अशुभ विचार नहीं आने देना।

(२) वचनगुप्ति—निरवद्य वचन बोलना।

(३) कायगुप्ति —शरीर को जयणा से वर्तना।

३. साधु को दो प्रकार का तप करना कहा है—

(१) बाह्य-तप—उपवास, व्रत आदि कर्म क्षय करने के लिए शारीरिक कष्ट सहना।

(२) आभ्यन्तर तप—किये हुए पापों का प्रायश्चित्त लेना।

(क) पाँच प्रकार का स्वाध्याय, ध्यान, बाह्य आभ्यन्तर उपाधि का त्याग, वैयावच्च करना।

(ख) क्रोध, मान, माया और लोभ का त्याग।

(ग) भूख प्यास आदि परीषह तथा।

(घ) मनुष्य या देवों या तिर्यञ्च का किया हुआ सोलह प्रकार का उपसर्ग समता से सहना।

(ङ) अट्ठारह हजार शीलांग धारण करना

साधु व्यवहार बहुत ही संक्षेप में बताया गया है। विशेष जानकारी अन्य पुस्तकों से प्राप्त करें।

केवल वेश से कोई लाभ नहीं

आजीविकार्थमिह यद्यतिवेषमेष,
धत्से चरित्रममलं न तु कष्टभीरुः।
तद्वेत्सि किं न न बिभेति जगज्जिघृक्षु-
र्मृत्युः कुतोऽपि नरकश्च न वेषमात्रात् ॥४॥

अर्थः—तू आजीविका के लिये ही इस संसार में यति का वेश धारण करता है और कष्ट से डर कर शुद्ध चारित्र नहीं पालता पर क्या तू नहीं जानता कि सारे जगत् को स्वाहा करने की इच्छा वाला मृत्यु और नरक किसी प्राणी के दिखावटी वेश को देख कर नहीं डरते ॥४॥

भावार्थः—कोई जीव संसार के दुःख से पीड़ित होकर यति का वेश धारण कर लेता है और श्रावकों से उत्तम गोचरी का लोभ मन में रखता है, परन्तु जो क्रिया यति को करनी चाहिये वह नहीं करता। यहाँ तक कि कोई यति तो यति धर्म का प्राण चतुर्थ व्रत अर्थात् ब्रह्मचर्य व्रत भी नहीं रखता ऐसे वेशधारी शिथिलाचारी साधु अथवा यतियों को जानना चाहिये कि मृत्यु ने किसी को नहीं छोड़ा वह प्राणियों के खाने के लिये तैयार खड़ी है। वे तुमको पकड़ कर ऐसे भयंकर नरक में डाल देंगे जिसका वर्णन सुन रोंगटे खड़े हो जाते हैं, और जहाँ से निकलना अनन्तकाल तक नहीं होगा।

केवल वेश धारण करने वाले को उलटा दोष होता है

वेषेण माद्यसि यतश्चरणं विनात्मन् :
पूजां च वाञ्छसि जनाद्बहुधोपधिं च।
मुग्ध प्रतारणभवे नरकेऽसि गन्ता।
न्यायं विभर्षि तदजागलकर्तरीयम् ॥५॥

अर्थः—हे आत्मन्! तू शुद्ध चारित्र बिना यति का वेश धारण कर अहंकार करता है और भक्त लोगों से पूजे जाने की इच्छा रखता है। इससे भोले विश्वास रखने वाले लोगों को ठगने के कारण तू नरक में अवश्य जायगा ऐसा ज्ञात होता है। इस कारण तू 'अजागल-कर्त्तरी न्याय' अपने ऊपर लागू करता है ॥५॥

भावार्थः—साधु के सब उपकरण प्राप्त कर बिना चारित्र पाले तू यति-वेश का घमण्ड करता है और लोगों से पूजे जाने की इच्छा करता है। इस प्रकार तू लोगों को धोखा देता है अतः तू स्वयं ही नरक में जाने की तैयारी करता है। जिस प्रकार एक खटीक ने बकरी को मारने की तैयारी की पर उसे छुरी नहीं मिली। बकरी अपनी आदत के अनुसार अपने पैरों से पृथ्वी खोदने लगी। वहीं मिट्टी के हटने से खटीक को छुरी दिखाई पड़ गई और उसीसे उसका गला काट डाला। इसी प्रकार तू वेश धारण कर लोगों को धोखा देने के कारण स्वयं ही अपने को नरक में डालता है।

बाह्य वेश धारण करने का फल

जानेऽस्ति संयमतपोभिरमीभिरात्म-
न्नस्य प्रतिग्रहभरस्य न निष्क्रयोऽपि।
किं दुर्गतौ निपततः शरणं तवास्ते,
सौख्यं च दास्यति परत्र किमित्यवेहि ॥६॥

अर्थः—मेरे विचार से हे आत्मन्! इस प्रकार के संयम और तप से तो (गृहस्थ के पास से लिये पात्र, भोजन आदि) वस्तुओं का किराया भी पूरा नहीं होता। तब दुर्गति में पड़ते हुए तुझे शरण किसकी? और परलोक में सुख कौन देगा? इसका तू विचार कर ॥६॥

भावार्थः—ऊपर बताये हुए ढंग से केवल बाह्याडम्बर रख कर लोक दिखाऊ तप-संयम रखा जावे तो उसका फल कुछ नहीं होता। जो कुछ गृहस्थ से भोजन, पात्र, वस्त्र आदि मिले हैं उनका ऐसे तप-संयम से भाड़ा (किराया) भी नहीं निकलता। इसलिये अपना ऋण उतारने के लिये तेरा संयम उच्च प्रकार का होना चाहिये। दुनिया को उपदेश देने वालों का चरित्र बहुत उच्च और आदर्श होना चाहिये

उनकी कथनी और करनी में अन्तर नहीं होना चाहिये। उनके विषय में लोग क्या विचार करते हैं इस बात का भी विचार नहीं होता। सुसाधु तो उनका क्या कर्त्तव्य है इस बात का ध्यान रखते हैं और परभव में सुख प्राप्ति के लिये वेश और आचरण में कोई अन्तर नहीं करते।

शुद्ध आचरण विना लोकरंजन बोधिवृक्ष के लिये कुल्हाड़ा है और संसार-समुद्र में पड़ना है

किं लोकसत्कृतिनमस्करणार्चनाद्यै,
रे मुग्ध तुष्यसि विनापि विशुद्धयोगान्।
कृन्तम् भवान्धुपतने तव यत्प्रमादो,
बोधिद्रुमाश्रयमिमानि करोति पर्शुम् ॥७॥

अर्थः—तेरे त्रिकरण योग विशुद्ध नहीं, तब भी लोग तेरा आदर करते हैं, तुझे नमस्कार करते और पूजा करते हैं। अतः हे मूर्ख! तू क्यों सन्तोष मानता है? इस संसार-समुद्र में पड़ते हुए का आधार केवल यह बोधिवृक्ष है। और इस वृक्ष को काटने में नमस्कार आदि से सन्तोष मानना आदि प्रमाद कुल्हाड़े का काम करता है॥७॥

भावार्थः—हे मूर्ख! तेरे मन, वचन और काया वश में नहीं हैं, फिर भी लोग तेरा मान, वन्दन और पूजा करते हैं और तू प्रसन्न होता है, यह कहाँ तक ठीक है? यह संसार एक समुद्र है, इसमें सम्यक्त्वरूप बोधि वृक्ष है। यदि यह बोधि वृक्ष हाथ आ जावे तो मनुष्य तिर जावे। लेकिन इस बोधिवृक्ष को अपने शिथिलाचार तथा प्रमाद के होते हुए भी लोगों की वन्दना स्वीकार कर सन्तोष मानता है तो तू इस बोधिवृक्ष को कुल्हाड़े से काटता है। ऐसी दशा में तुझे संसार-समुद्र से तिरने का कोई आलम्बन नहीं।

विना गुण लोक-सत्कार प्राप्त करने वाले की गति

गुणांस्तवाश्रित्य नमन्त्यमी जना, ददत्युपध्यालयभैक्ष्यशिष्यकान्।
विना गुणान् वेषमृषेर्बिभर्षि चेत्, ततष्ठकानां तव भाविनी गतिः ॥८॥

अर्थः—लोग तुझमें गुण मान कर उपकरण, उपाश्रय, आहार

और शिष्य देते हैं। यदि तुझ में गुण नहीं और तूने वेश मात्र धारण कर रखा है तो तेरी ठग के समान गति होगी ॥८॥

भावार्थ :—सच्चा मुनि तो मन में कभी बुरे विचार नहीं लाता और उसका चारित्र भी बहुत शुद्ध होता है। ऐसे मुनि की कल्पना कर श्रावक लोग अति भावभक्ति पूर्वक मुनि महाराज की सेवा करते हैं। पर यदि वह मुनि पाखण्डी सिद्ध हो जावे तो उसकी गति बुरी होती है।

यतिपना में सुख और कर्तव्य

नाजीविकाप्रणयिनीतनयादिचिन्ता,
नो राजभीश्च भगवत्समयं च वेत्सि।
शुद्धे तथापि चरणे यतसे न भिक्षो,
तत्ते परिग्रहभरो नरकार्थमेव ॥९॥

अर्थ :—तुझे आजीविका, स्त्री, पुत्र आदि की चिन्ता नहीं। राज्य का भय भी नहीं। तू भगवान् के सिद्धान्तों का जानकार है अथवा सिद्धान्त की पुस्तकें तेरे पास हैं तब भी हे यति ! तू शुद्ध चारित्र के लिए यत्न नहीं करता। अतः तेरे पास की वस्तुओं का बोझ (परिग्रह) नरक के वास्ते ही है ॥९॥

भावार्थ :—संसारी मनुष्य को आजीविका, स्त्री, पुत्र, धन, यश आदि अनेक बातों की चिन्ता होती है, परन्तु साधु इन सब बातों से मुक्त है। इसके सिवाय वह धर्म के रहस्य को भी जानता है। इतना होते हुए भी यदि वह अपने चरित्र में ढीला है तो साधु के उपकरण आदि सब भार स्वरूप हैं और वे उसे नरक में ले जाने वाले हैं।

ज्ञानी भी प्रमादवश हो जाते हैं—उसके दो कारण

शास्त्रज्ञोऽपि धृतव्रतोऽपि गृहिणीपुत्रादिबन्धोज्झितो-
ऽप्यङ्गी यद्यतते प्रमादवशगो न प्रेत्यसौख्यश्रिये।
तन्मोहद्विषतस्त्रिलोकजयिनः काचित्परा दुष्टता,
बद्धायुष्कतया स वा नरपशुर्नूनं गमी दुर्गतौ ॥१०॥

अर्थ :—शास्त्र का जानकार हो, व्रत लिया हुआ हो, और स्त्री, पुत्र आदि बन्धनों से मुक्त हो, तब भी प्रमादवश होने के कारण वह प्राणी पारलौकिक सुख रूप लक्ष्मी (रक्षा) के वास्ते कोई यत्न नहीं करता। इसमें तीन लोकों को जीतने वाले मोह नाम के शत्रु की अप्रकट दुष्टता ही कारण होना चाहिए। अथवा उसकी प्रथम भव से संबद्ध आयुष्य बंधन ही कारण है जो उसे दुर्गति में लाने वाला होना चाहिए ॥१०॥

यति सावद्य त्याग उच्चारण करे उसमें भी झूठ का दोष

उच्चारयस्यनुदिनं न करोमि सर्वं,
सावद्यमित्यसकृदेतदथो करोषि ।
नित्यं मृषोक्तिजिनवंचनभारितात्तत्,
सावद्यतो नरकमेव विभावये ते ॥११॥

अर्थ :—तू प्रत्येक दिवस और रात में नौ वार 'करेमि भंते' का पाठ बोलता है और कहता है कि मैं सर्वथा सावद्य कार्य का त्याग करता हूँ फिर भी वही कार्य वारवार करता है। तू इन सावद्य कर्मों के करने से झूठ बोल कर प्रभु को भी धोखा देने वाला हुआ और इस पाप के भार से तू नरकगामी होगा, ऐसा मैं विचार करता हूँ ॥११॥

भावार्थ :—करेमि भंते समाइअं सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं इत्यादि। इस प्रकार प्रतिक्रमण तथा पोरिसी करते समय बोल कर सारे जीवन में मन, वचन तथा काया से सावद्य कार्यों का त्याग स्वयं करने का, दूसरे से कराने का और दूसरे करने वाले को अच्छा मानने का त्याग करता है, पर तू उसके विपरीत वैसा ही कार्य करता है। यह तो एकदम अनुचित है। इस प्रकार तू दो पाप करता है; एक तो सावद्य क्रिया का पाप और दूसरा असत्य वचन का पाप। अतएव बोलना, उपदेश देना और करना एकसा होना चाहिये। जिन पुरुषों के व्यवहार में इन तीनों में अन्तर है उनको परभव में महा भयंकर मानसिक, शारीरिक पीड़ाएँ सहनी पड़ती हैं।

विद्वानों ने कहा:—

यथा चित्तं तथा वाचो, यथा वाचस्तथा क्रियाः।
चित्ते वाचि क्रियायां च, साधूनामेकरूपता॥

अर्थात् साधु जैसा विचार करें वैसा ही बोलें और जैसा बोलें वैसा ही आचरण करें। अन्यथा वे महान् पाप के भागी होते हैं।

यति सावद्य आचरे इस परवंचना का दोष

वेषोपदेशाद्युपधिप्रतारिता, ददत्यभीष्टानृजवोऽधुना जनाः।
भुंक्षे च शेषे च सुखं विचेष्टसे, भवान्तरे ज्ञास्यसि तत्फलं पुनः॥१२॥

अर्थ :—वेश, उपदेश और कपट से मोहित हुए भद्रीक लोग तुझ को सभी इच्छित वस्तुएँ देते हैं, तू सुख से उन्हें खाता है, सोता है और फिरता है, पर अगले भव में इसका क्या फल होगा, तू यह भी जानता है?॥१२॥

भावार्थ:—ऊपर बताया जा चुका है कि श्रावक लोग तुझे गुणवान् समझ कर अच्छी से अच्छी वस्तु खाने को देते हैं और रहने को स्थान देते हैं। यदि तू साधु का चारित्र ठीक तरह नहीं पालता तो तुझे इन उत्तमोत्तम वस्तुओं को ग्रहण करने का क्या अधिकार है? बिना अधिकार के कोई वस्तु प्राप्त करने से महा दुर्गति में जाना पड़ता है। दंभ करने वाले को दंभ छिपाने के लिए अनेक झूठे उपाय तथा झूठ बोलना पड़ता है तथा हरदम झूठ प्रगट होने का डर रहता है। अतः वह इस लोक में और परलोक में कहीं भी सुखी नहीं रह सकता।

संयम में यत्न नहीं करने वाले को उपदेश

आजीविकादिविविधार्त्तिभृशानिशार्त्ताः,
कृच्छ्रेण केऽपि महतैव सृजन्ति धर्मान्।
तेभ्योऽपि निर्दय जिक्षृसि सर्वमिष्टं,
नो संयमे च यतसे भविता कथं ही॥१३॥

अर्थ :—महान् कष्ट उठाकर गृहस्थ लोग आजीविका कमाते हैं और रात दिन दुःख उठाकर और हैरान होकर भी धर्म कार्य करते हैं। ऐसे लोगों से तू अपनी सब इच्छित वस्तुएँ प्राप्त करने की इच्छा करता है, पर संयम नहीं रखता तो हे निर्दयी यति ! बता तेरा क्या हाल होगा ? ॥१३॥

निर्गुण मुनि की भक्ति से भक्तों को कोई फल नहीं होता

आराधितो वा गुणवान् स्वयं तरन्
भवाब्धिमस्मानपि तारयिष्यति ।
श्रयन्ति ये त्वामिति भूरिभक्तिभिः
फलं तवैषां च किमस्ति निर्गुण ! ॥१४॥

अर्थ :—ये (साधु) गुणवान् हैं, ये भव-समुद्र से तरेंगे, अपने को भी तार देंगे ऐसा मानकर बहुत से मनुष्य भक्ति से तेरा आश्रय लेते हैं। इससे निर्गुण ! तुझे और इनको क्या लाभ ?

भावार्थ :—हे साधु ! तू गुणवान् है यह समझ कर बहुत से श्रावक भक्ति से तुझे सब वस्तु वहराते हैं। इससे उनको पुण्य होगा और इस पुण्य का कारणभूत तू है यह समझ कर तुझे भी पुण्य बंध होगा यह समझना तेरी भूल है। कारण तुझ में कोई ऐसा गुण नहीं जिससे तू तिरे और तेरे अवलम्बन से वे भी तिर जावें। परन्तु तुझमें गुण न होने से तू तो अवश्य पाप-बंध करता है।

को तू अपने स्वार्थ के लिये धोखा देकर अपने किये पापों तथा अन्य (भक्तों) द्वारा किये पापों के कारण डूबता है।

मोक्ष की इच्छा करने वाले भद्रीक पुरुष संसार-समुद्र से पार होने के लिये तेरा आश्रय लेते हैं और तेरे उपदेश के अनुसार कार्य करते हैं, परन्तु तू उनको अनुचित उपदेश देकर जो उनसे कार्य कराता है अतः उनके पाप का भागी तू है। यह "अन्य द्वारा पाप हुआ" और तू पच्चक्खाण (महाव्रत) लेकर विषय-कषायादि प्रमाद सेवन कर महाव्रत का भंग करता है इस पाप का भी तू भागी हुआ। इस प्रकार दोहरे पाप का भागी तू है। इस प्रकार हे मुनि ! तू निर्गुणी होने से तुझे लाभ तो कोई होता नहीं, इसमें संदेह नहीं। तू यह समझता हो कि तुझे लोग अन्न-वस्त्र वहराकर पुण्य उपार्जन करते हैं उसका जो लाभ उनको मिलता है उसका निमित्त तू है इस प्रकार तुझे भी लाभ मिलता है यह धारणा भी अनुचित है, क्योंकि तू निर्गुणी और दंभी है। तुझे तो इन कारणों से उल्टा पाप ही प्राप्त होगा, और तू गले में पत्थर बाँध कर भव-समुद्र में डूब जायगा।

निर्गुणी का ऋण और उसका परिणाम

गृह्णासि शय्याहृतिपुस्तकोपधीन्, सदा परेभ्यस्तपसस्त्वियं स्थितिः।
तत्ते प्रमादाद्भरितात्प्रतिग्रहैर्ऋणार्णमग्नस्य परत्र का गतिः ॥१६॥

अर्थ :—तू दूसरों से उपाश्रय, आहार, पुस्तक और उपाधि (उपकरण) लेता है यह स्थिति तपस्वियों (शुद्ध चारित्र वालों) की है, परन्तु तू तो इन वस्तुओं को लेकर प्रमाद में पड़ जाता है। अतः जिस तरह बड़ा कर्जदार डूबता है उसी तरह परभव में तेरी गति होगी॥१६॥

भावार्थ :—ग्रन्थकार कहते हैं कि हे मुनि ! तू प्रमाद करता है तो दोहरे कर्ज से डूबता है। एक तो चारित्र ग्रहण कर प्रमाद करता है और दूसरा शुद्ध चारित्र पाले बिना आहार आदि ग्रहण करता है। इस प्रकार दो कर्जों में डूबता है और जिस तरह ऋणी मनुष्य का सिर ऊँचा नहीं होता उसी प्रकार तेरी भी गति होगी अर्थात् कभी ऊँचा नहीं उठेगा।

तुझमें ऐसा क्या गुण है कि तू ख्याति की इच्छा रखता है?

न कापि सिद्धिर्न च तेऽतिशायि, मुने क्रियायोगतपःश्रुतादि।
तथाप्यहङ्कारकदर्थितस्त्वं, ख्यातीच्छया ताम्यसि धिङ् मुधा किम्॥१७

अर्थः—हे मुनि! तुझमें न कोई विशेष सिद्धि न उच्च प्रकार की क्रिया न योग न तपस्या और न किसी प्रकार का ज्ञान है। फिर भी तू अहंकार से कदर्थना पाया हुआ प्रसिद्धि पाने की इच्छा करता है। हे अधम! तू वृथा दुःख क्यों पाता है?॥१७॥

भावार्थः—तुझमें आठ सिद्धियों में से एक भी नहीं उच्च क्रिया भी नहीं, जिसमें ऊँचे प्रकार की आतापना या घोर परिश्रम हो अथवा तूने उपसर्ग सहा हो। तूने न योगवहन प्राप्त किया, न घोर तपस्या की। सूत्रसिद्धान्त को समझ सकने की शक्ति रखने वाला ज्ञान भी प्राप्त नहीं किया। अतः तू मान की आशा क्यों करता है, कुछ समझ में नहीं आता। महापुरुष मान की इच्छा नहीं करते। लेकिन तुझमें उक्त गुणों में से एक भी गुण नहीं है फिर भी मान की इच्छा करता है और मान न मिलने से तू दुखी होता है। इसलिये हे मुनि! यह बात अच्छी तरह समझले कि यदि गुण हैं तो तेरी प्रसिद्धि आप ही हो जायगी। इसलिये प्रसिद्धि की इच्छा छोड़ अपना कर्त्तव्य पालन कर और योग्यता प्राप्त कर।

निर्गुणी होने पर भी स्तुति की इच्छा करने का फल

हीनोऽप्यरे भाग्यगुणैर्मुधात्मन्, वाञ्छंस्तवार्चाद्यनवाप्नुवंश्च।
ईर्ष्यन् परेभ्यो लभसेऽतितापमिहापि याता कुगतिं परत्र॥१८॥

अर्थः—हे आत्मा! तू पुण्यहीन है फिर भी तू पूजा आदि की इच्छा करता है। जब वह तुझे नहीं मिलती तो दूसरों से द्वेष करता है। ऐसा करने से इस भव में तू बहुत दुःख पाता है और पर भव में भी कुगति में जायगा॥१८॥

भावार्थः—हे आत्मा! तू प्रसिद्धि चाहता है, जब वह नहीं मिलती तो दूसरों से द्वेष करता है और मन में दुःखी होता है।

परन्तु तुझको यह सोचना चाहिये कि प्रसिद्धि बिना पुण्य के नहीं प्राप्त होती। यदि तूने पिछले भव में पुण्य नहीं किया है तो इस भव में प्रसिद्धि कैसी? यदि इस भव में प्रसिद्धि प्राप्त करनी है तो गुणवान् बन, अभ्यास कर और अपना कर्त्तव्य पूरा कर। जब तुझमें गुण होंगे तो तेरी प्रसिद्धि अनायास हो जायगी। प्रसिद्धि के लिए कुछ योग्यता होनी चाहिये। प्रसिद्धि ऐसी वस्तु है कि ज्यों-ज्यों मनुष्य उसके पीछे दौड़ता है वह त्यों-त्यों दूर भागती है। अतः प्रसिद्धि की इच्छा ही न करनी चाहिये। इससे इस भव में शान्ति मिलेगी और पर भव में दुर्गति से बचेगा।

गुण बिना स्तुति की इच्छा ऋण है

गुणैर्विहीनोऽपि जनानतिस्तुतिप्रतिग्रहान् यन्मुदितः प्रतीच्छसि ।
लुलायगोऽश्वोष्ट्रखरादिजन्मभिर्विना ततस्ते भविता न निष्क्रयः ॥१६॥

अर्थः—तुझमें गुण नहीं है फिर भी लोगों से तू वन्दना, स्तुति, आहार, पानी आदि लेता है और बड़ी खुशी से उन्हें रखता है। पर याद रखना ये सब तुझ पर कर्ज हैं, जो भैंसा, गाय, घोड़ा, ऊँट या गधे का जन्म लिये बिना नहीं छूटेगा।

भावार्थः—लोग तेरी पूजा करते हैं, बड़े मान से आहार, पानी बहराते हैं और सेवा करते हैं परन्तु ये सब तुझे बिना योग्यता के पचेंगे नहीं। यदि तू अपना कर्त्तव्य पालन करता है तो इन पर तेरा हक है अन्यथा ये सब तुझ पर कर्ज ही हैं, जो भैंसा, गाय, घोड़ा, गधे की गति में जन्म लेकर उतारना पड़ेगा।

गुण बिना वन्दन पूजन का फल

गुणेषु नोद्यच्छसि चेन्मुने ततः, प्रगीयसे यैरपि वन्द्यसेऽर्च्यसे ।
जुगुप्सितां प्रेत्य गतिं गतोऽपि तैर्हसिष्यसे चाभिभविष्यसेऽपि वा ॥२०॥

अर्थः—हे मुनि! जो तू गुण प्राप्त करने का यत्न नहीं करता तो तेरी गुणस्तुति करने वाले भक्तजन ही तेरे कुगति में जाने पर हँसी या अपमान करेंगे ॥२०॥

भावार्थ :—विना गुणों के केवल बाह्य आडम्बर से धोखा देकर तुम मान कराते हो यह उचित नहीं। किये का फल परभव में भोगना पड़ेगा फिर तुझे बहुत दुःख अनुभव होगा।

गुण विना वन्दन पूजन से हितनाश

दानमाननुतिवन्दनापरैर्मोदसे निकृतिरञ्जितैर्जनैः ।
न त्ववैषि सुकृतस्य चेल्लवः, कोऽपि सोऽपि तव लुट्यते हि तैः॥२१॥

अर्थ :—तेरे कपट-जाल से मुग्ध हुए लोग तुझे दान देते हैं, तुझे नमस्कार करते हैं, वन्दना करते हैं तो तू प्रसन्न होता है। तू जानता नहीं कि तेरे पास जो कुछ लेशमात्र सुकृत बचा है वह भी इस प्रकार लुटता जाता है॥२१॥

भावार्थ :—कपट-जाल द्वारा जो तू मान, दान, नमस्कार प्राप्त करता है उससे तुझे कोई लाभ नहीं, बल्कि जो कुछ थोड़ा बहुत पुण्य तेरे पास है वह भी ऐसा करने से नष्ट हो जायगा और परभव में तू दुःख पायगा।

स्तवन का रहस्य गुण प्राप्ति

भवेद्गुणी मुग्धकृतैर्न हि स्तवैर्न ख्यातिदानार्चनवन्दनादिभिः ।
विना गुणान्नो भवदुःखसंक्षयस्ततो गुणानर्जय किं स्तवादिभिः॥२२॥

अर्थ :—भोले आदमियों के द्वारा स्तुति होने से कोई गुणवान् नहीं होता। इसी प्रकार प्रख्याति प्राप्त करने से या दान, अर्चना और पूजा करवाने से कोई गुणवान् नहीं होता। गुणों के बिना संसार के दुःखों का नाश नहीं होता। इसलिए हे भाई! तू गुण प्राप्त कर। इन स्तुति आदि से कुछ लाभ नहीं॥२२॥

भावार्थ :—संसार के सभी प्राणी दुःखों का नाश और सुख की प्राप्ति चाहते हैं। पर वास्तविक सुख वही है जिसके अन्त में दुःख न हो। अव्याबाध सुख तो मोक्ष में ही है। इसको प्राप्त करने के लिए असाधारण गुणों की आवश्यकता है। ये गुण न भोले प्राणियों की

स्तुति से प्राप्त होते हैं और न वन्दन, पूजन, नमस्कार आदि से, बल्कि इनसे अर्जित गुणों का नाश अवश्य हो जाता है। वास्तविक गुण तो क्रोध पर जय, ब्रह्मचर्य, मान, माया, त्याग, निःस्पृहता, न्यायवृत्ति और शुद्ध व्यवहार से ही प्राप्त होते हैं। जब ये गुण प्राप्त हो जाते हैं तो मुनि अक्षय आनन्द में विचरता है, चारों ओर उसका यश फैलता है और मोक्ष का मार्ग खुल जाता है।

लोक रंजन भाषणों का भवान्तर में परिणाम

अध्येषि शास्त्रं सदसद्विचित्रालापादिभिस्ताम्यसि वा समायैः ।
येषां जनानामिह रंजनाय, भवान्तरे ते क्व मुने क्व च त्वम् ॥२३॥

अर्थ :—जो मनुष्यों के मनोरंजन के लिये अच्छे तथा बुरे अनेक शास्त्रों को पढ़ते हैं, माया पूर्वक विचित्र ढंग से भाषण देने का कष्ट उठाते हैं और श्रोता बड़ी तन्मयता से उनको सुनते हैं। ऐसे पुरुष भवान्तर में कहाँ जावेंगे और तू भी कहाँ जायगा ? ॥२३॥

भावार्थ :—जो लोग यह कहते हैं कि हम तो सब कार्य लोकरंजन तथा वाहवाही लूटने के लिए करते हैं। उन्हें सोचना चाहिए कि इस प्रकार की वाहवाही कितने आदमी करेंगे और कितने समय तक ? क्योंकि ऐसी वाहवाही सदा रहने वाली नहीं। न तो श्रोता और न भाषण देने वाले सदा रहने वाले हैं। इसलिए तू इन सब बाह्य व्यापारों को छोड़ दे, और वास्तविक लाभ प्राप्त करने का प्रयास कर तथा मन, वचन, काया और व्यवहार शुद्ध रख, जिससे तेरा परभव सुधरे।

परिग्रह त्याग

परिग्रहं चेद्व्यजहा गृहादेस्तत्किं नु धर्मोपकृतिच्छलात्तम् ।
करोषि शय्योपधिपुस्तकादेर्गरोऽपि नामान्तरतोऽपि हन्ता ॥२४॥

अर्थ :—जब घर इत्यादि सब परिग्रह का त्याग कर दिया है तो धर्म के उपकरणों के बहाने से शय्या, उपाधि, उपकरण, पुस्तक आदि परिग्रह किसलिए रखता है ? विष का नाम दूसरा रख देने से भी वह मार ही डालता है ॥२४॥

भावार्थः—हे मुने! जब तुमने घर, संबंधी—सब परिग्रह—का त्यागकर दिया है तो धर्म के उपकरण रूप शय्या, सुन्दर पुस्तक आदि उपकरणों में क्यों मोह रखता है? धार्मिक क्रिया से साधना के निमित्त समझकर यदि इनमें मोह रखता है तो ये ही वस्तुएँ परिग्रह हैं। परिग्रह को शास्त्रों ने सदा त्याज्य कहा है। परिग्रह को किसी नाम से पुकारा जाय है वह त्याज्य ही है। विष को अमृत कहने पर भी विष ही रहता है। इस प्रकार परिग्रह भी चाहें धर्म का उपकरण हो वह परिग्रह ही है।

धर्म-निमित्त रखा हुआ परिग्रह

परिग्रहात्स्वीकृतधर्मसाधनाभिधानमात्रात्किमु मूढ! तुष्यसि।
न वेत्सि हेम्नाप्यतिभारिता तरी, निमज्जयत्यङ्गिनमम्बुधौ द्रुतम् ॥२५॥

अर्थ:—हे मूढ! धर्म के साधन को उपकरण आदि नाम देकर स्वीकार किये हुए परिग्रह से तू क्यों प्रसन्न होता है? क्या तू नहीं जानता कि जहाज में सोने का अति भार हो तो उस जहाज में बैठने वाला प्राणी समुद्र में तुरंत डूब जाता है ॥२५॥

भावार्थः—सोना सबको प्रिय है, पर यदि सोने का बहुत बोझ जहाज में भर दिया जावे तो जहाज डूब जाता है और साथ में बैठने वाले भी डूब जाते हैं। इसी प्रकार यति-जीवन रूपी जहाज में परिग्रह रूपी सुवर्ण का अति भार भर दें तो चारित्र रूपी नौका अवश्य डूबती है। धर्म उपकरण चारित्र पालने में साधन स्वरूप हैं, परन्तु इन पर यति का मोह नहीं होता। यदि उसका उपकरणों में मोह है तो वह परिग्रह है और सोने के भार के समान चारित्र रूपी नौका को डुबा देता है जो मुनि को संसार में अनन्त समय तक घुमाता है।

धर्मोपकरण पर मूर्छा—ये भी परिग्रह है

येऽहः कषायकलिकर्मनिबन्धभाजनं,
स्युः पुस्तकादिभिरपीहितधर्मसाधनैः
तेषां रसायनवरैरपि सर्पदामयै-
रात्मनो गदहतैः सुखकृत्तु किं भवेत् ॥२६॥

अर्थः—जिसके द्वारा धर्म-साधना की हो ऐसी पुस्तकादि के विषय में भी प्राणी पाप, कषाय, झगड़ा और कर्मबंधन करे तो फिर सुख का साधन क्या ? उत्तम प्रकार के रसायन से भी जिन प्राणियों की व्याधि अधिक बढ़े तो फिर व्याधि की शान्ति के लिये दूसरा क्या उपाय हो सकता है ?

भावार्थः—इस पुस्तक में भगवान् के वचनों का संग्रह है. जो संसार से पार होने के मुख्य साधन स्वरूप हैं। अतएव मेरी है—ऐसा समझ कर ममता के कारण कर्मबन्धन करता है। इसी प्रकार अन्य उपकरणों पर भी मोहवश झगड़ा करता है तो ये सब परिग्रह ही हैं और संसार बढ़ाने का कारण हो जाते हैं। जो साधन संसार-नाश के परम साधन है वे ही संसार-वृद्धि का कारण हो जाते हैं तो फिर संसार का अन्त कैसे हो ? यह ममत्व भाव ही संसार बँधाता है।

धर्मोपकरण पर मूर्छा-दोष है

रक्षार्थं खलु संयमस्य गदिता येऽर्था यतीनां जिनै,
र्वासः पुस्तकपात्रकभृतयो धर्मोपकृत्यात्मकाः।
मूर्छन्मोहवशात्त एव कुधियां संसारपाताय धिक्,
स्वं स्वस्यैव वधाय शस्त्रमधियां यद्दुष्प्रयुक्तं भवेत् ॥२७॥

अर्थः—यद्यपि वस्त्र, पुस्तक, और पात्र आदि धर्मोपकरणों को श्री तीर्थङ्कर भगवान् ने संयम की रक्षा के लिये बताया है। तो भी मन्द-बुद्धि वाले पुरुष उनमें अधिक मोह रखने से उनको संसार में पड़ने का साधन बना लेते हैं, उन्हें धिक्कार है। मूर्ख मनुष्य उपयोगी शस्त्र को मूर्खता के कारण अपने ही नाश का कारण बना लेता है ॥२७॥

धर्मोपकरण बहाना से दूसरे पर बोझ

संयमोपकरणच्छलात्परान्भारयन् यदसि पुस्तकादिभिः।
गोखरोष्ट्रमहिषादिरूपभृत्तच्चिरं त्वमपि भारयिष्यसे ॥२८॥

अर्थः— संयम उपकरण के बहाने से पुस्तक आदि वस्तुओं का भार तू दूसरों पर डालता है। तो वह तुझसे बैल, गधा, ऊँट या भैंस आदि रूप द्वारा बहुत समय तक भार खिंचवाएँगे ॥२८॥

भावार्थः—साधु लोग उपकरण के बहाने अनेक खर्च कराकर अपने भक्तों पर बोझ डालते हैं। अनावश्यक पुस्तकें तथा दूसरी अनावश्यक वस्तुओं को अपने आराम के लिये ले लेते हैं। जब चतुर्मास समाप्त हो जाता है तो वे लौटाते नहीं। इस तरह उनके पास बोझा बढ़ जाता है तो विहार के समय सामान ढोने को गाड़ी की आवश्यकता होती है। कई साधु अपने साथ लेखक रखते हैं, अपने काम को सुव्यवस्थित चलाने के लिये नौकर भी रखते हैं और इनको संयम साधन के लिये आवश्यक बताते हैं। इन सबका भार श्रावक समाज पर पड़ता है। जहाँ संयम के उपकरणों में अति होती है तो ममत्व भाव हो ही जाता है और इन उपकरणों का रूप परिग्रह में परिवर्तित हो जाता है। इस प्रकार जो भार उपकरणों के बहाने से लिया वह जन्मजन्मान्तर में दुःख और भव-भ्रमण करायेगा। इसलिये साधु को केवल अति आवश्यक वस्तु ही रखनी चाहिये और उस पर भी ममता नहीं होनी चाहिये।

संयम और उपकरण के शोभा में होड़

वस्त्रपात्रतनुपुस्तकादिनः शोभया न खलु संयमस्य सा।
आदिमा च ददते भवं परा, मुक्तिमाश्रय तदिच्छयैकिकाम् ॥२६॥

अर्थः—वस्त्र, पात्र, शरीर तथा पुस्तक आदि की शोभा करने से संयम की शोभा नहीं बढ़ती। प्रथम प्रकार की शोभा भववृद्धि करती है और दूसरी प्रकार की शोभा मोक्ष देती है। इसलिये इन दोनों शोभा में से एक को स्वीकार करो। अथवा इसी कारण वस्त्र, पुस्तक आदि की शोभा त्याग कर हे मुनि! मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा वाले तू संयम की शोभा प्राप्त करने का यत्न क्यों नहीं करता? ॥२९॥

भावार्थः—शोभा दो प्रकार की होती है, एक बाह्य शोभा और दूसरी अन्तरंग शोभा। संसार बँधाने वाली बाह्य शोभा—परिग्रह और ममता—छोड़कर अन्तरंग शोभा के लिये प्रयत्न कर। सत्तर प्रकार का संयम अथवा चरणसित्तरी और करणसित्तरी की शोभा करना ये तेरा कर्त्तव्य है, पर इतनी बात याद रखनी चाहिये कि जहाँ बाह्य शोभा हो वहाँ अन्तरंग शोभा नहीं हो सकती, इसलिये इन दोनों में से एक को तू मान्यता दे।

लोगों की ऐसी मान्यता है कि ज्ञान, दर्शन और चारित्र के
को परिग्रह नहीं कह सकते। सूरि महाराज कहते हैं कि
ठीक हैं, परन्तु अन्य कारणों से भी परिग्रह हो सकते हैं। जब र
उपकरणों पर "मेरी है" ऐसी वुद्धि हो तथा उनके त्याग से दु
और ये चीजें किसको मिलनी चाहिये यह निश्चय करने की अपन
हो तो ये सब वस्तुएँ परिग्रह हैं। किसी वस्तु पर किसी प्रक
स्वामित्व अथवा सत्ता जमाना परिग्रह है। जो वस्तुएँ साधुत्व
संयम स्थिर रखने में सहायक हों अथवा संयम रक्षण के लिये आ
हों और मोह राजा पर विजय प्राप्त करने के निमित्त यह
उपयोग करने के लिए भगवान् की आज्ञा हो, उनका दुरुपयोग क
संसार-भ्रमण कराने वाली वस्तु वन जाती है। इससे कितना
नुकसान होता है। तुमने जब घर-बार, स्त्री, धन सब कुछ
दिया तो इनका त्यागना अधिक कठिन नहीं है। इनसे ममत्व-त्या
साधना अपनाने से तेरा कार्य सिद्ध हो जायेगा।

परिषह सहन—संवर

शीतातपाद्यान्न मनागपीह, परीषहांश्चेत्क्षमसे विसोढुम्।
कथं ततो नारकगर्भवासदुःखानि सोढासि भवान्तरे त्वम् ॥३०॥

अर्थः—इस भव में जब तू थोड़ी सर्दी, गर्मी आदि परिषह न
सहन कर सकता तो अगले भव में नारकी का तथा गर्भावास के दु
को किस तरह सहन करेगा? ॥३०॥

ये देह विनाशी–जप तप करले

मुने ! न किं नश्वरमस्वदेहमृत्पिण्डमेनं सुतपोव्रताद्यैः ।
निपीड्य भीतिर्भवदुःखराशेर्हित्वात्मसाच्छैवसुखं करोषि ॥३१॥

अर्थः—हे मुनि ! यह शरीर मिट्टी का पिण्ड है, नाशवान् है और अपना नहीं है, इसलिए इसे उत्तम प्रकार के तप और व्रत द्वारा कष्ट देकर अनन्त भवों में होने वाले दुःखों को यहीं नष्ट कर मोक्ष-सुख का साक्षात्कार क्यों नहीं करता ? ॥३१॥

भावार्थः—जो कुछ धर्म-साधना हो सकती है वह इसी मनुष्य-भव में हो सकती है। यह भी वे मुनि जानते हैं यह शरीर मिट्टी का पिण्ड है और अपना नहीं। थोड़े समय बाद यह जीव इसे यहीं छोड़कर चला जायगा तो तप, जप, व्रत, ध्यान आदि करके इस पराई वस्तु का उपयोग क्यों नहीं किया जावे। इससे तेरा संसार घटेगा और मोक्षरूपी लक्ष्मी प्राप्त होगी।

चारित्र का कष्ट और नारकी तिर्यञ्च का कष्ट

यदत्र कष्टं चरणस्य पालने, परत्र तिर्यङ्नरकेषु यत्पुनः ।
तयोर्मिथः सप्रतिपक्षता स्थिता, विशेषदृष्टयान्यतरं जहीहि तत् ॥३२॥

अर्थः—चारित्र पालते समय जो इस भव में कष्ट होते हैं और पर भव में नारकी और तिर्यञ्च गति में जो कष्ट होते हैं ये दोनों एक दूसरे के प्रतिपक्षी हैं। इसलिये विवेक द्वारा दोनों में से एक को तज दे ॥३२॥

भावार्थः—चारित्र पालने में तथा रमणतारूप आत्मगुण प्राप्त करने में कितना कष्ट उठाना पड़ता है। केश लोचने पड़ते हैं तथा कई दूसरे तात्कालिक लाभ त्यागने पड़ते हैं। सभी सांसारिक सुख भी त्यागने पड़ते हैं। नारकी और तिर्यंच के दुःखों को भी सहना पड़ता है। ये दोनों दुःख एक दूसरे से भिन्न तथा परस्पर विरोधी होते हैं। जो चारित्र पालने के दुःख को सहन करता है उसे मनुष्य या देव गति प्राप्त होती है तथा जिसने अधिक स्थिरता से कष्ट सहन किया हो वह मोक्ष भी प्राप्त

करता है तथा जिसने यहां व्यसन, विषय-सेवन तथा कपट व्यवहार किया है उसे दुर्गति मिलती है। अतएव हे मुनि! तुम सोच समझ कर दोनों में से एक को ग्रहण करो, इन दोनों कष्टों में कौनसा दुखद तथा अधिक समय तक कष्ट देने वाला है इसका निर्णय कर लो।

प्रमाद जन्य सुख तथा मुक्ति का सुख

शमत्र यद्विन्दुरिव प्रमादजं, परत्र यच्चाब्धिरिव द्युमुक्तिजम्।
तयोर्मिथः सप्रतिपक्षता स्थिता, विशेषदृष्टयान्यतरद्गृहाण तत् ॥३३॥

अर्थः—इस भव में प्रमाद से जो सुख प्राप्त होता है वह बिन्दु के समान है और पर भव में देवलोक और मोक्ष का सुख है वह समुद्र के तुल्य है। इन दोनों सुखों में पारस्परिक विरोध है। इसलिये विवेक से इन दोनों में से एक को ग्रहण कर।

चारित्र नियन्त्रण का दुःख और गर्भवास का दुःख

नियन्त्रणा या चरणेऽत्र तिर्यक्स्त्रीगर्भकुम्भीनरकेषु या च।
तयोर्मिथः सप्रतिपक्षभावाद्विशेषदृष्टयान्यतरां गृहाण ॥३४॥

अर्थः—चारित्र पालने में इस भव में तुझ पर नियन्त्रण होता है, और पर भव में तिर्यंच गति में, स्त्री के गर्भ में अथवा नारकी के कुम्भीपाक में भी नियन्त्रण (कष्ट पराधीनता) होता है। ये दोनों नियन्त्रण परस्पर विरोधी हैं, इसलिये विवेक के द्वारा दोनों में से एक को ग्रहण कर ॥३४॥

परिषह सहन करने का उपदेश

सह तपोयमसंयमयन्त्रणां, स्ववशतासहने हि गुणो महान्।
परवशस्त्वति भूरि सहिष्यसे, न च गुणं बहुमाप्स्यसि कञ्चन ॥३५॥

अर्थः—तू तप, यम, और संयम का नियन्त्रण सहन कर। अपने श में रहकर परिषहादि दुःख सहने में बड़ा गुण है। परवश स्थिति रहेगा तो बहुत दुःख सहन करना पड़ेगा और उसका फल भी कुछ हीं होगा ॥३५॥

भावार्थः—तप—बाह्यतप जैसे उपवास आदि, अंतरंग तप जैसे प्रायश्चित्त आदि। यम—पाँच अणुव्रत अथवा गृहव्रत। संयम—चार कषायों का त्याग; मन, वचन, काया के योगों पर अंकुश और पाँचों इन्द्रियों का दमन। इन तप, यम और संयम की नियंत्रणा में कष्ट सहन करना पड़ता है। जब कोई मुनि अपनी इच्छा से कष्ट सहन करते हैं तो मन में शान्ति रहती है और इसका परिणाम भी शुभ होता है। उनके संचित कर्मों का क्षय होता है। विषय-वासना से मनुष्य को क्षणिक ही सुख होता है, परन्तु जब वह समाप्त हो जाता है तो मनुष्य को दुःख होता है। इससे परभव भी बिगड़ जाता है। यदि इन्हीं विषयों को अपनी इच्छा से त्याग दिया जावे तो दुःख के स्थान पर आनन्द हो जावे, चित्त को शान्ति मिले, पहले के संचित कर्म क्षीण हो जावें तथा नये शुभ कर्म बँध जावें और देवलोक तथा मोक्ष भी निकट आ जावे। यदि पुरुष विषयों को नहीं छोड़ते तो ये विषय तो पुरुष को एक दिन छोड़कर चले ही जावेंगे—फलस्वरूप पाप-बन्धन होगा और परभव में दुःख ही दुःख होगा। अतः यह निष्कर्ष प्राप्त हुआ कि अपनी इच्छा से दुःख सहने में बहुत लाभ हैं और विवश होकर दुःख सहने में अनेक हानियां हैं।

परिषह सहन करने का शुभ फल

अणीयसा साम्यनियंत्रणाभुवा, मुनेऽत्र कष्टेन चरित्रजेन च।
यदि क्षयो दुर्गतिगर्भवासगाऽसुखावलेस्तत्किमवापि नार्थितम् ॥३६

अर्थः—समता और नियंत्रण के द्वारा थोड़ा सा कष्ट पाने तथा चारित्र पालने में थोड़ा कष्ट उठाने से यदि दुर्गति में जाने की अथवा गर्भावास की दुःख परम्परा मिट जावे तो फिर पीछे कौनसी इच्छा पाना बाकी रह गई (अर्थात् कुछ नहीं बाकी रहा)? ॥३६॥

भावार्थः—समता तो आत्मिक धर्म है। इसमें कष्ट नहीं होता बल्कि शान्ति मिलती है। इसी प्रकार सहज स्वरूप में रमने से इन्द्रियों की प्रवृत्ति का नाश हो जाता है जिससे आत्मिक शान्ति में अधिक तीव्रता आ जाती है। इस प्रकार समता, नियंत्रण और चारित्र पालने में कोई कष्ट नहीं। यदि ऐसे आचरण में थोड़ा कष्ट मान

भी लिया जाय तो, चूंकि उस कष्ट से पर भव में गर्भावास और नारकीय तिर्यञ्च गति की अनन्त यातना से तो पुरुष बच जाता है, अतः इससे अधिक फल और क्या चाहिये ?

परिषह से दूर भागने का बुरा फल

त्यज स्पृहां स्वः शिवशर्मलाभे, स्वीकृत्य तिर्यङ्नरकादिदुःखम् ।
सुखाणुभिश्चेद्विषयादिजातैः, संतोष्यसे संयमकष्टभीरुः ॥३७॥

अर्थः—संयम पालने के कष्ट से डर कर विषय-कषाय से प्राप्त अल्प सुख में यदि पुरुष संतोष का अनुभव करता है तो वह तिर्यञ्च-नारकी का भावी दुःख स्वीकार कर ले और स्वर्ग तथा मोक्ष पाने की इच्छा का त्याग कर दे ॥३७॥

भावार्थः—संयम पालने में वस्तुतः दुःख नहीं होता है। यदि तुझे वहां दुःख प्रतीत होता है तो तू देवलोक अथवा मोक्ष पाने की इच्छा छोड़ दे।

परिषह सहन करने से अधिक शुभ फल

समग्रचिन्तार्तिहतेरिहापि, यस्मिन्सुखं स्यात्परमं रतानाम् ।
परत्र चेन्द्रादिमहोदयश्रीः, प्रमाद्यसीहापि कथं चरित्रे ॥३८॥

अर्थः—चारित्र से इस जन्म में सब प्रकार की चिन्ता और मन का दुःख नष्ट हो जाता है। इसलिये जिनकी चारित्र में लय लग गई है उनको इस भव में बहुत सुख होता है और परभव में इन्द्रासन अथवा मोक्ष-रूपी महालक्ष्मी मिलती है। इस तत्त्व को जानने पर तू चरित्र पालने में क्यों प्रमाद करता है ? ॥३८॥

भावार्थः—साधु-जीवन में आत्म-सन्तोष और प्राप्त वस्तु के इच्छा-पूर्वक त्याग से चित्त में बहुत आनन्द होता है। इसके अतिरिक्त राज-भय, चोर-भय, आजीविका से निश्चिन्तता और इस भव में सुख और पर भव में भी सुख उत्पन्न होता है। इसलिये साधुपन में तो सुख ही सुख है। अतः हे आत्मन् ! तू ऐसे लाभकारी जीवन प्राप्त करने के निबाहने में क्यों घबराता है ?

सुख साध्य धर्म कर्त्तव्य का दूसरा उपाय

महातपोध्यानपरीषहादि, न सत्त्वसाध्यं यदि धर्त्तुमीशः ।
तद्भावनाः किं समितीश्च, गुप्तीर्धत्से शिवार्थिन्न मनःप्रसाध्याः ॥३९॥

अर्थः—उग्र तपस्या, ध्यान, परिषह आदि साधना तो शक्ति द्वारा ही सम्पन्न होती है। यदि साधना करने के लिए तू शक्तिमान् नहीं है तो हे मोक्षार्थी ! तू मन से साधी जाने वाली भावना, पाँच समिति और तीन गुप्तियों को धारण क्यों नहीं करता ? ॥३९॥

भावार्थः—इस युग के पुरुषों में इतनी शक्ति नहीं कि छह मासी तप; महा प्राणायामादिक ध्यान तथा उपसर्ग, परिषह आदि सहन कर सके। तब यहाँ असामर्थ्य के कारण उत्तम फलों की प्राप्ति के लिए क्या प्रयास छोड़ देना चाहिये यह शंका होती है। उसके लिए शास्त्र समाधान बताते हैं कि आत्म-कल्याण के मार्ग बंद नहीं हो गये हैं। मन पर अंकुश रखने से, इन्द्रिय दमन से, आत्म संयम से, मन, वचन और काय के योगों पर अंकुश रखने से, बिना शारीरिक कष्ट उठाये ही आत्म-कल्याण हो सकता है।

भावना-संयम स्थान उसका सहारा

अनित्यताद्या भज भावनाः सदा, यतस्व दुःसाध्यगुणेऽपि संयमे ।
जिघत्सया ते त्वरते ह्ययं यमः, श्रयन् प्रमादान्न भवाद्बिभेषि किम्॥४०॥

२. अशरण भावना—जिनवाणी के सिवाय इस जीव को कोई बचाने वाला नहीं।

३. संसार भावना—यह जीव अनेक परिस्थितियों में कर्मानुसार संसार में भ्रमण करता है।

४. एकत्व भावना—यह जीव इस संसार में अकेला आया और अकेला ही जायगा।

५. अन्यत्व भावना—इस संसार में कोई किसी का नहीं ? पौद्गलिक वस्तुएँ हैं पर वे विनाशवान् हैं। इस प्रकार पुत्र, पति, पत्नी भी अपने से भिन्न हैं।

६. अशुचि भावना—अपना शरीर अशुचि वस्तुओं से भरा है, अतः प्रीति करने योग्य नहीं, इससे शरीर पर ममता नहीं रखनी चाहिए।

७. आश्रव भावना—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय तथा मन, वचन, काया के योग से कर्मबंध होते हैं।

८. संवर भावना—पाँच समिति, तीन गुप्ति, यति-धर्म, चारित्र, परिषह-सहन आदि से कर्म बंधन रुकता है।

९. निर्जरा भावना—बाह्य तथा आभ्यन्तर तप द्वारा पुराने कर्मों का नाश करना, अपने प्रबल पुरुषार्थ से कर्मों का विपाकोदय न होने देना और उनका क्षय करना।

१०. लोक स्वरूप—मण्डल की रचना, नरक, मृत्यु लोक, बारह देव लोक, ग्रैवेयक अनुत्तर विमान और मोक्ष स्थान, उनमें रहने वाले जीवों के साथ अपने सम्बन्ध का विचार करना।

११. बोधि भावना—धर्म जीव को दुर्गति में पड़ने से बचाता है। शास्त्र-प्रतिपादित धर्म, दान, शील, तप और भाव तथा दश यतिधर्म, श्रावक के बारह व्रत आदि अनेक बातें समझने वाले पुरुष अति दुर्लभ हैं।

१२. धर्म भावना—शुद्ध देव, गुरु और धर्म को पहचानना बहुत कठिन है और पहचान कर उन्हें पूजना, वन्दना करना और आराधना करना तो बहुत ही कठिन है, पर इनकी साधना करना ही अपना कर्त्तव्य है।

२. अशरण भावना—जिनवाणी के सिवाय इस जीव को कोई बचाने वाला नहीं।

३. संसार भावना—यह जीव अनेक परिस्थितियों में कर्मानुसार संसार में भ्रमण करता है।

४. एकत्व भावना—यह जीव इस संसार में अकेला आया और अकेला ही जायगा।

५. अन्यत्व भावना—इस संसार में कोई किसी का नहीं ? पौद्गलिक वस्तुएँ हैं पर वे विनाशवान् हैं। इस प्रकार पुत्र, पति, पत्नी भी अपने से भिन्न हैं।

६. अशुचि भावना—अपना शरीर अशुचि वस्तुओं से भरा है, अतः प्रीति करने योग्य नहीं, इससे शरीर पर ममता नहीं रखनी चाहिए।

७. आश्रव भावना—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय तथा मन, वचन, काया के योग से कर्मबंध होते हैं।

८. संवर भावना—पाँच समिति, तीन गुप्ति, यति-धर्म, चारित्र, परिषह-सहन आदि से कर्म बंधन रुकता है।

९. निर्जरा भावना—बाह्य तथा आभ्यन्तर तप द्वारा पुराने कर्मों का नाश करना, अपने प्रबल पुरुषार्थ से कर्मों का विपाकोदय न होने देना और उनका क्षय करना।

१०. लोक स्वरूप—मण्डल की रचना, नरक, मृत्यु लोक, बारह देव लोक, ग्रैवेयक अनुत्तर विमान और मोक्ष स्थान, उनमें रहने वाले जीवों के साथ अपने सम्बन्ध का विचार करना।

११. बोधि भावना—धर्म जीव को दुर्गति में पड़ने से बचाता है। शास्त्र-प्रतिपादित धर्म, दान, शील, तप और भाव तथा दश यतिधर्म, श्रावक के बारह व्रत आदि अनेक बातें समझने वाले पुरुष अति दुर्लभ हैं।

१२. धर्म भावना—शुद्ध देव, गुरु और धर्म को पहचानना बहुत कठिन है और पहचान कर उन्हें पूजना, वन्दना करना और आराधना करना तो बहुत ही कठिन है, पर इनकी साधना करना ही अपना कर्त्तव्य है।

इन बारह भावनाओं के सिवाय, मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ्य भावना ये चार भावनाएँ भी निरंतर ध्यान में रखने योग्य हैं।

हे साधु! तुझे चरणसित्तरी और करणसित्तरी भी वहुत अच्छी तरह पालनी चाहिए। इनका संक्षिप्त स्वरूप नीचे दिया है :—

चरण सित्तरी के ७० भेदः—५ महाव्रत, १० यतिधर्म, १७ प्रकार का संयम, १० प्रकार का वैयावच्च—बड़ों की सेवा सुश्रूषा, ९ प्रकार का ब्रह्मचर्य, ३ ज्ञानादित्रय (शुद्ध अवबोध, शुद्ध श्रद्धा और निरतिचार वर्त्तन) १२ तपस्या (६ बाह्य और ६ आभ्यंतर), ४ कषाय त्याग—इस प्रकार ७० भेद हुए।

करण सित्तरी के ७० भेद :—४ पिण्ड (शय्या, वस्त्र और पात्र जरूरत से ज्यादा नहीं लेना), ५ समिति—(१) इर्या समिवि (२) भाषा समिति (३) ऐषणा समिति (४) आदान भंडमत्त निक्षेपणा समिवि (५) परिष्ठा पनिका समिति।

१२ भावना (इनका स्वरूप ऊपर आ गया), १२ साधु की प्रतिमा, ५ इन्द्रिय-निरोध, २५ प्रतिलेखना, ३ गुप्ति, ४ अभिग्रह—इस प्रकार ७० करण- सित्तरी के भेद हुए।

उपरोक्त सब साधु योग्य कर्तव्य हैं। उनको इनमें प्रवृत्ति करनी चाहिए। प्रमाद से वचना चाहिए, कारण मृत्यु निकट आती जाती है। गया समय फिर हाथ नहीं आवेगा और न यह मनुष्य देह तथा जैन धर्म वार-वार मिलने वाला है।

मन, वचन, काया के योगों पर नियन्त्रण की आवश्यकता

हतं मनस्ते कुविकल्पजालैर्वचोप्यवद्यैश्च वपुः प्रमादैः।
लब्धीश्च सिद्धीश्च तथापि वाञ्छन्, मनोरथैरेव हहा हतोऽसि ॥४१॥

अर्थ :—तेरा मन बुरे संकल्प विकल्पों से विकृत हो गया है, तेरे वचन असत्य और कठोर भाषण से अशुद्ध हो गए हैं, तथा तेरा शरीर

प्रमाद से बिगड़ गया है फिर भी तू लब्धि और सिद्धियों की इच्छा करता है। निःसंदेह तू झूठे मनोरथों में फँसा हुआ है ॥४१॥

भावार्थ :—मन, वचन और काया इन तीनों को वश में रखना बहुत आवश्यक है यह सब हम पहले समझा चुके हैं। यदि इन तीनों को अपनी इच्छा पर छोड़ दिया जावे तो लब्धि तथा सिद्धियों की आशा रखना वृथा तो है ही अपने मन के लिये दुःख की सामग्री जुटाना और भविष्य को बिगाड़ लेना भी है। गौतम स्वामीजी महाराज को लब्धियाँ प्राप्त थीं और तीनों योगों पर भी बहुत कुछ अधिकार था केवल महावीर प्रभु पर राग था। इतना होने पर भी उनको केवलज्ञान प्राप्ति में बड़ा समय लगा, वरना केवलज्ञान कभी का हो जाता। इसलिये हे साधुओ! योग की सम्यक् साधना करना अत्यन्त आवश्यक है। इसे सविधि करने पर सांसारिक दुःखों का नाश और मोक्ष की प्राप्ति होती है, इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है।

मनोयोग पर अंकुश—मनोगुप्ति

मनोवशस्ते सुखदुःखसंगमो, मनो मिलेद्यैस्तु तदात्मकं भवेत् ।
प्रमादचोरैरिति वार्यतां मिलच्छीलाङ्गमित्रैरनुपञ्जयानिशम् ॥४२॥

अर्थः—सुख दुःख पाना तेरे मन के आधीन है। मन जिसका साथ करता है वैसा ही वह हो जाता है। इसलिये प्रमाद रूपी चोर की संगति करने से तू अपने मन को हटाले और शीलांगना रूप मित्रों के साथ सदा मिला कर ॥४२॥

भावार्थः—जैसे कर्म बँधे होते हैं वैसे ही सुख दुःख प्राप्त होते है। अच्छे या बुरे कर्म का कारण केवल मन है। इसलिये मन ही सब सुख दुःख का कारण है, मन को जैसा साथ मिलता है वैसा ही वह हो जाता है जैसे तेल को पानी पर डाल दिया जावे तो वह सर्वत्र फैल जाता है और उसी तेल को सुगन्धित पुष्पों में डाल दिया जाए तो वह सुगन्धित हो जाता है। इसी प्रकार यदि मन को सांसारिक कामों में लगा दिया जावे तो वह वैसा ही हो जाता है और यदि इसे शीलांग के साथ लगा दिया जाय तो वह शुद्ध शीलांग रूप हो जाता है। इसलिये

हे यति ! जो जैसी संगति करेगा वह वैसा ही हो जायगा। इसलिये मन को प्रमाद का साथी नहीं होने देना चाहिये। उसे तो समता, दया, उदारता, सत्य, क्षमा, धीरज, शीलांग आदि सद्गुणों के साथ जोड़ देना चाहिये। अन्य किसी प्रकार का नीच सम्बन्ध इससे न हो जाय इसका सदा ध्यान रखना चाहिये।

मत्सर त्याग

ध्रुवः प्रमादैर्भववारिधौ मुने, तव प्रपातः परमत्सरः पुनः।
गले निबद्धोरुशिलोपमोऽस्ति चेत्कथं तदोन्मज्जनमप्यवाप्स्यसि ॥४३॥

अर्थ :—हे मुनि ! तू प्रमाद करता है इसलिए संसार-समुद्र में तू अवश्य गिरेगा यह तो निश्चय है और दूसरों को मात्सर्य भावना से देखता है तो तेरा यह कार्य गले में शिला बाँधने के समान है। ऐसी दशा में तू भव-समुद्र में डूबता हुआ ऊपर किस तरह तिर सकेगा ॥४३॥

भावार्थ :—साधु धर्म में आत्म जागृति मुख्य है। बिना जागृति के साधु प्रमादवश हो जाता है, और उसका व्यवहार निंद्य हो जाने से उसका अधःपतन होता है इसलिए साधु को अप्रमत्त रहने के लिए भगवान् का आदेश है। यहाँ प्रमाद का अर्थ मद्य, विषय, कषाय, विकथा और निद्रा का सेवन है। इनसे समस्त साधुओं को बचना चाहिए। कारण इससे जीव का अधःपतन होता है और फिर इस प्रमाद के साथ वह मत्सर अर्थात् ईर्ष्या करता है वो गले में भारी पत्थर बाँध कर डूबने के समान है। इस दशा में उसको संसार-समुद्र से निकलना बहुत कठिन हो जाता है—यह उपदेश क्या साधु-क्या गृहस्थी दोनों के लिए उपयोगी है।

निर्जरा के लिए परिषह सहना

महर्षयः केऽपि सहन्त्युदीर्याप्युग्रातपादीन्यदि निर्जरार्थम्।
कष्टं प्रसङ्गागतमप्यणीयोऽपीच्छन् शिवं किं सहसे न भिक्षो ! ॥४४॥

अर्थ :—जब बड़े ऋषि मुनि कर्म की निर्जरा के लिए उदीरणा कर कष्ट सहते हैं तो तू मोक्ष की इच्छा रखता है और तू आये हुए साधारण अल्प कष्टों को क्यों नहीं सहन करता ॥४४॥

भावार्थ :—जब बड़े ऋषि मुनि कर्म की निर्जरा करने के लिये उदीरणा (अर्थात् कर्म जल्दी क्षय करने के लिए कर्मों को उदय में लाने के लिए अपनी इच्छा से कष्ट भोगना) करते हैं और प्रार्थना करते हैं कि हमें ऐसे कष्ट दो जिससे जल्दी कर्म-क्षय हो। वे कड़ी धूप तथा बालू रेत में आतापना लेते हैं। भर सर्दी में रात के समय नदी के किनारे नग्न शरीर का उत्सर्ग करते हैं आदि कितने ही कष्ट सहते हैं। तो हे मुनि ! तू थोड़े से कष्ट से घबरा जाता है यह तुझे शोभा नहीं देता है। कर्म-क्षय कर उच्च स्थिति प्राप्त करने के लिए कष्ट सहन करना अनिवार्य है, इससे तू पीछे क्यों हटता है।

यति स्वरूप—भाव दर्शन

यो दानमानस्तुतिवन्दनाभिर्न मोदतेऽन्यैर्न तु दुर्मनायते ।
अलाभलाभादि परीषहान् सहन् , यतिः स तत्त्वादपरो विडम्बकः ॥४५॥

अर्थ :—जो प्राणी दान, मान, स्तुति और नमस्कार से प्रसन्न नहीं होता और यदि इसके विपरीत (असत्कार या निंदा) हो तो अप्रसन्न नहीं होता और नुकसान आदि परीषह सहन करता है, वह यथार्थ में यति है अन्य सब तो वेश की विडंबना मात्र हैं ॥४५॥

यति को गृहस्थ की चिन्ता नहीं करना चाहिए

दधद् गृहस्थेषु ममत्वबुद्धिं, तदीयतप्त्या परितप्यमानः ।
अनिवृतान्तःकरणः सदा स्वैस्तेषां च पापैर्भ्रमिता भवेऽसि ॥४६॥

अर्थ :—गृहस्थी पुरुषों पर ममत्व बुद्धि रखने और उनके सुख दुःख की चिन्ता करने से तेरा अन्तःकरण सदा दुःखी रहेगा और तू अपने तथा गृहस्थी के पापों से तू संसार भ्रमण करता रहेगा ॥४६॥

भावार्थ :—ये मेरे श्रावक हैं, ये मेरे भक्त हैं ऐसी बुद्धि ममता है। यह राग का कारण है और मोह उत्पन्न करता है। यह भी एक प्रकार

का व्यापार है जो बढ़ता रहता है। यदि यति का मन भी भक्त श्रावक के सुख दुःख के अनुसार सुखी दुःखी होने लगता है, तो उसके मन की निवृत्ति नष्ट हो जाती है, समता का अन्त हो जाता है और साधु का साधुत्व नष्ट हो जाता है। हे साधु! तुझको ऐसी राग-बुद्धि नहीं रखनी चाहिये और यदि राग-बुद्धि रखनी ही पड़े तो उच्चकोटि के साधु से रख, जो किसी जटिल समय में तुझको सही रास्ते पर ले आवे।

साधु का तो श्रावकों से जितना कम परिचय रहे उतना ही अच्छा है, इससे वह अनावश्यक चर्चाओं से बचेगा जिससे उसके अभ्यास में बाधा नहीं आवेगी। इसीलिये साधु को विशेष कारणों के सिवाय एक स्थान पर अधिक ठहरना मना है।

गृहस्थ चिन्ता का परिणाम

त्यक्त्वा गृहं स्वं परगेहचिन्ता तप्तस्य को नाम गुणस्तवर्षे।
आजीविकास्ते यतिवेषतोऽत्र, सुदुर्गतिः प्रेत्य तु दुर्निवारा ॥४७॥

अर्थः—अपना घर त्याग कर पराये घर की चिन्ता से दुःखित होने पर, हे मुनि! तुझे क्या लाभ होने वाला है। ज्यादा से ज्यादा इस वेष से इस भव में तेरी आजीविका चल जायगी परन्तु परभव में जो दुर्गति होगी, उसको तो तू रोक नहीं सकेगा ॥४७॥

भावार्थः—जब तक दीक्षा नहीं ली तब तक तुझे एक अपने ही घर की चिन्ता थी, परन्तु दीक्षा लेने के बाद भक्त गृहस्थों से सम्पर्क बढ़ाकर अनेक घरों की चिन्ता तूने मोल ले ली इसमें तेरा क्या लाभ? दीक्षा तो ली थी चिन्ता मिटाने के लिए पर अब वह अधिक बढ़ गई। यह तो ऐसी बात हुई कि कोई स्त्री गई थी पूत माँगने को पर पति खो बैठी। अतएव साधु को गृहस्थ सम्पर्क नहीं बढ़ाना चाहिये जिससे राग पैदा न हो सके। राग से साधु धर्म का नाश होता है और भव-भ्रमण बढ़ता है।

तेरी प्रतिज्ञा और वर्तन

कुर्वे न सावद्यमिति प्रतिज्ञां, वदन्नकुर्वन्नपि देहमात्रात्।
शय्यादिकृत्येषु नुदन् गृहस्थान्, हृदा गिरा वासि कथं मुमुक्षुः ॥४८॥

अर्थः—मैं सावद्य (कार्य) नहीं करूँगा ऐसी प्रतिज्ञा तू प्रति दिवस उच्चारण करता है तो भी तू केवल शरीर मात्र से ही सावद्य नहीं करता है। परन्तु शैय्या आदि कामों में मन और वचन से गृहस्थों को प्रेरणा करता रहता है। ऐसी स्थिति में तू मुमुक्षु कैसा ? ॥४८॥

भावार्थः—सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं इत्यादि, अर्थात् हे प्रभु ! मैं सर्व प्रकार के सावद्य कार्यों को यावत् जीवन त्यागता हूँ। मैं मन से, वचन से तथा काया से न करूँगा, न कराऊँगा तथा सावद्य कार्य करने वालों को भी अच्छा नहीं समझूँगा, इस प्रकार की कठोर प्रतिज्ञा चारित्र ग्रहण करते समय तू नौ नौ बार लेता है। पर इसका पूरी तरह पालन तू नहीं करता। तू तो केवल काया से ही सावद्य टालता है। लेकिन मन तथा वचन से अनेक प्रकार के उपदेश-आदेश द्वारा (Direct or indirect) टेढ़ी बाँकी रीति से तू सावद्य कार्य कराता है और उनको अनुमोदता है। इस प्रकार प्रतिज्ञा का पालन नहीं करने से तू मृषावाद का दोषी होता है। जिसको निवृत्ति का ध्यान है वह पूरी तरह से सावद्य त्याग करता है और दिन प्रतिदिन संसार से विरक्ति-भाव में वृद्धि करता है।

प्रत्यक्ष प्रशस्त सावद्य कर्मों का फल

कथं महत्त्वाय ममत्वतो वा, सावद्यमिच्छस्यपि सङ्घलोके।
न हेममय्यप्युदरे हि शस्त्री, क्षिप्ता क्षिणोति क्षणतोऽप्यसून् किम् ॥४९॥

अर्थः—कभी संघ में महत्त्व की प्राप्ति के लिये, अथवा ममत्व के कारण भी सावद्य का उपदेश हो जाता है। पर सोने की छुरी यदि पेट में घुसादी जावे तो क्या एक क्षण में ही प्राण का नाश नहीं हो जाता है ? ॥४९॥

कई बार अपने नाम के हेतु अथवा प्रसिद्धि, यश या कीर्ति के लिये अथवा मोह के कारण भी सावद्य कर्मों का उपदेश दे दिया जाता है। यह अनुचित है। कार्य कितना ही उत्तम क्यों न हो यदि उसके करने में पौद्गलिक आशा है अथवा अभिमान या कपट है तो उससे कर्म बन्धन जरूर होता है और उसका भयंकर परिणाम अवश्य सहन करना

पड़ता है। सोने की छुरी अगर पेट में मारी जावे तो उसका परिणाम मृत्यु ही होगा। इस प्रकार सावद्य कार्य चाहे कितना ही अच्छा क्यों न समझा जावे संयम के लिये हानिकारक समझा जाता है।

निष्पुण्यक की चेष्टा-उद्धत वर्ताव का नीच फल

रङ्कः कोऽपि जनाभिभूतिपदवीं त्यक्त्वा प्रसादाद्गुरो-
र्वेषं प्राप्य यतेः कथंचन कियच्छास्त्रं पदं कोऽपि च।
मौखर्यादिवशीकृतर्जुजनतादानार्चनैर्गर्वभाग्-
आत्मानं गणयन्नरेन्द्रमिव धिग्गन्ता द्रुतं दुर्गतौ ॥५०॥

अर्थः—कोई गरीब पुरुप मनुष्यों के अपमान कारक वर्ताव से बचने के लिये गुरु महाराज की शरण में मुनिवेश प्राप्त करता है। कोई शास्त्र अभ्यास से ऊँची पदवी प्राप्त करता है कोई अपनी वाचाल आदत से लोगों को वश में कर भक्तों से दान पूजा कराता है और गर्व करता हुआ अपने आपको राजा के समान मानता है। ऐसे (साधुओं) को धिक्कार है ॥५०॥

भावार्थः गरीब मनुष्य को अनेक प्रकार के दुःख और अपमान सहने पड़ते हैं। वह इनसे पीछा छुड़ाने के लिये दीक्षा लेता है। वह गुरु-कृपा से शास्त्र का अच्छा जानकार हो जाता है और ऊँची पदवी भी प्राप्त कर लेता है। वह मधुर उपदेश से भद्रक-भक्तों को वश में भी कर लेता है। वह उपदेश द्वारा दान, शील, तप, पूजा आदि धार्मिक क्रिया भी खूब कराता है। परन्तु यदि वह इन सब क्रियाओं के कराने में लिप्त रहता है और सांसारिक भावों का त्याग नहीं कर सकता तो वह अहंकार से अपना संसार ही बढ़ाता है।

चारित्र प्राप्ति—प्रमाद त्याग

प्राप्यापि चारित्रमिदं दुरापं, स्वदोपजैर्यद्विपयप्रमादैः।
भवाम्बुधौ धिक् पतितोऽसि भिक्षो! हतोऽसि दुःखैस्तदनंतकालम् ॥५१॥

अर्थः—यह चारित्र बड़ी मुश्किल से प्राप्त होता है और इसे प्राप्त कर अपने ही दोषों से उत्पन्न किये हुए विषय प्रमाद के कारण हे भिक्षु!

तू संसार-समुद्र में पड़ता जाता है, जिसके कारण अनन्तकाल तक तू दुःख पायेगा ॥५१॥

बोधिबीज प्राप्ति-आत्महित साधन

कथमपि समवाप्य बोधिरत्नं, युगसमिलादिनिदर्शनाद्दुरापम् ।
कुरु कुरु रिपुवश्यतामगच्छन्, किमपि हितं लभसे यतोऽर्थितं शम् ॥५२॥

अर्थ :—युग (जुआ जो बैलों के कन्धों पर रखा जाता है) समिला (अर्थात् कीली जो जुआ में डाली जाती है) के दृष्टान्त से मालूम होता है कि बोधि रत्न बड़ी मुश्किल से प्राप्त होता है। इस रत्न को पाकर शत्रुओं के वशीभूत न होकर अपना कुछ तो आत्महित कर ले। जिससे तुझे मनोवांछित फल प्राप्त हो ॥५२॥

विवेचन :—यदि बड़े भारी तालाब के एक किनारे की ओर पानी में बैलों का जुआ डाल दिया जावे और सामने दूसरे किनारे पर पानी में कीली डाल दी जावे तब जुए के सुराख में कीली का जाना असम्भव है और यदि कीली का आना सम्भव हो जावे तब भी यह मनुष्य भव प्राप्त करना अति दुर्लभ है। फिर मनुष्य भव प्राप्त कर सम्यक्त्व प्राप्त करना तो बहुत कठिन है। ऐसा दुर्लभ मनुष्य जन्म और वहाँ भी सम्यक्त्व प्राप्त कर जो मनुष्य विषय, प्रमाद आदि शत्रु के वशीभूत हो अपना जन्म नष्ट कर देता है वह निर्भागी है। मनुष्य को सावधान रहना चाहिये और सम्यक्त्व प्राप्त कर आत्महित साधना चाहिये। तभी यह मनुष्य जन्म सफल है।

शत्रुओं के नामों की सूची

द्विषस्त्विमे ते विषयप्रमादा, असंवृता मानसदेहवाचः ।
असंयमाः सप्तदशापि हास्यादयश्च बिभ्यच्चर नित्यमेभ्यः ॥५३॥

अर्थ:—तेरे शत्रु विषय, प्रमाद, बिना अंकुश का मन, शरीर और वचन, सत्रह असंयम के स्थानक और हास्यादि हैं। इनसे तू सदा बचते रहना ॥५३॥

भावार्थ :—मनुष्य के निम्न लिखित शत्रु हैं इनसे बचते रहना चाहिये।

(१) पाँचों इन्द्रियों के तेईस विषय।

(२) पाँच प्रकार का प्रमाद :—मद्य, विषय, कषाय, विकथा और निद्रा।

(३) मन, वचन तथा काया के असंयत व्यापार।

(४) सत्रह प्रकार का संयम :—पंचमहाव्रत, पाँच इन्द्रियों का दमन, चार कषायों का त्याग, तीन योगों को रोकना—इन सत्रह प्रकार के संयम का अभाव।

(५) नौ कषाय, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, दुर्गंछा ये कषाय उत्पन्न करते हैं। इसी प्रकार स्त्री-वेद, पुरुष-वेद और नपुंसक-वेद ये तीन भी नौ कषाय हैं जो संसार को खूब बढ़ाने वाले हैं।

ये सब यहाँ शत्रु हैं और इनमें से कुछ मित्र भाव दिखाकर शत्रुता के कार्य करते हैं और लाखों को आकुल-व्याकुल करते हैं। इनसे सावधान रहना जरूरी है।

सामग्री और उसका उपयोग

गुरूनवाप्याप्यपहाय गेहमधीत्य शास्त्राण्यपि तत्त्ववाञ्चि।
निर्वाहचिन्तादिभराद्यभावेऽप्यृषे ! न किं प्रेत्य हिताय यतः ॥५४॥

अर्थः—हे यति ! तुमको महान् गुरु की प्राप्ति हुई, तुमने घरबार छोड़ा तत्त्व प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थों का अभ्यास किया और तुम्हारे अपने निर्वाह करने की चिन्ता मिटी, इतना होने पर भी तुम परभव के हित के लिये क्यों नहीं यत्न करते ? ॥५४॥

भावार्थः—हे साधु ! तुझे न भरण-पोषण की चिन्ता, न तुझे घर-धार अथवा पुत्र-पौत्र या स्त्री की किसी किस्म की चिन्ता है। तुझे उत्तम सद्गुरु मिले हैं तथा शास्त्रों का अच्छा ज्ञान भी प्राप्त हुआ है। ये सब उत्तम साधन होने पर भी तू संसार में विषय-कषाय में क्यों फँसता है ? जिन वस्तुओं को तूने त्याग दिया है उन्हीं में तू क्यों फँस

कर संसार-सागर में डूबने के साधन करता है। अब जरा चेत और अपनी कार्य-सिद्धि के रास्ते पर आ।

संयम की विराधना नहीं करना

विराधितैः संयमसर्वयोगैः, पतिष्यतस्ते भवदुःख राशौ।
शास्त्राणि शिष्योपधिपुस्तकाद्या, भक्ताश्च लोकाः शरणाय नालम्॥५५॥

अर्थः—संयम के सर्व योगों की विराधना करने से तू जब भव-दुःख की कीचड़ में पड़ेगा तब तेरे शास्त्र, शिष्य, उपाधि, पुस्तक और भक्त लोग आदि कोई भी तुझे शरण देने में समर्थ नहीं होगा ॥५५॥

भावार्थ :—सत्रह प्रकार के संयम की विराधना करने से दुर्गति प्राप्त होती है और अनन्त भव भ्रमण करना पड़ता है। संयम विराधना होने पर तेरे शास्त्रों का पढ़ना, शिष्य, पुस्तक और भक्त कोई भी काम नहीं आवेगा। तेरी दुर्गति को कोई नहीं रोक सकेगा, इसलिये संयम की विराधना नहीं करना, पर-वस्तु की आशा नहीं करना, यह जीव तो अकेला आया है और अकेला ही जायगा। इसलिये संयम का भली प्रकार आराधना कर अनन्त दुःख राशि में पड़ने से बच।

संयम से सुख तथा प्रमाद से सुख का नाश

यस्य क्षणोऽपि सुरधामसुखानि पल्य-
कोटीर्नृणां द्विनवतीं ह्यधिकां ददाति।
किं हारयस्यधम ! संयमजीवितं तत्,
हाहा प्रमत्त ! पुनरस्य कुतस्तवाप्तिः ॥५६॥

अर्थः—जिस संयम के एक क्षणमात्र पालने से बाणवे करोड़ पल्योपम से भी अधिक समय का देवलोक का सुख प्राप्त होता है। ऐसे संयम जीवन को हे नीच ! तू क्यों नष्ट करता है, हे प्रमादी ! तुझे इस संयम की प्राप्ति फिर कहां से मिलेगी ? ॥५६॥

भावार्थः—साधु दीक्षा लेकर शेष जीवन संयम में बिताता है। संयम तथा सामायिक एक ही वस्तु है। अतएव साधु हर समय सामा-

यिक में लीन रहता है। वह खाता-पीता प्रत्येक क्रिया करता हुआ सामायिक में रत रहता है, क्योंकि वह सर्वकाल आत्मिक उन्नति तथा संयम पालने में उद्यमशील रहता है। ऐसा संयम-रत रहना बाणवे करोड़ पल्योपम से भी अधिक देवलोक का सुख देता है। यदि एक दिवस का शुद्ध संयम जीवन पाले तो अनन्त सुख की प्राप्ति होती है। ऐसे अनेक दृष्टान्त शास्त्रों में आये हैं। हे साधु! ऐसे उत्तम प्रकार का साधु जीवन तुझे प्राप्त हुआ है। उसे तू प्रमाद में खोवेगा अथवा विषय कषाय में खोवेगा तो अनन्त काल तक संसार बढ़ेगा और ऊपर बताए हुए लाभ से तू वंचित हो जायगा, पुनः संयम की प्राप्ति होना मुश्किल होगी।

संयम का फल ऐहिक-आमुष्मिक-उपसंहार

नाम्नापि यस्येति जनेऽसि पूज्यः, शुद्धात्ततो नेष्टसुखानि कानि।
तत्संयमेऽस्मिन् यतसे मुमुक्षोऽनुभूयमानोरुफलेऽपि किं न॥५७॥

अर्थः—संयम के नाममात्र से तू लोकों में पूजा जाता है। यदि वे वास्तव में शुद्ध होवें तो तुझे कितना उत्तम फल प्राप्त हो। जिस संयम के महान् फलों का प्रत्यक्ष में अनुभव हुआ है उस संयम को हे साधु! यत्न से क्यों नहीं रखता?॥५७॥

भावार्थ साफ है:—

उपसंहार

इस प्रकार यति-शिक्षा का अधिकार पूरा हुआ। यह अधिकार बहुत ही मनन करने योग्य है। यह साधु-धर्म की उपयोगिता बताता है। साधु-वृत्ति केवल वेश धारण कर मनुष्यों से वाहवाही लूटने के लिये नहीं है, प्रत्युत आत्मिक उन्नति करने के लिये है। आत्मिक उन्नति के लिये हृदय में दृढ भावना होनी चाहिये। मन, वचन, काया से शुभ प्रवृत्ति रखनी चाहिये। लोक-सन्मान से आत्मिक गुणों पर कुप्रभाव, प्रमाद से अधःपतन होना बताया है। वस्तु पर मूर्छा न रखने तथा परिग्रह त्याग, यहां तक कि संयम पालने में उपयोगी उपकरणों पर भी मूर्छा रखने का निषेध किया है। विषय और प्रमाद का त्याग, भावना

भाने का फल, संयम का स्वरूप तथा उसे अच्छी तरह पालने का उपदेश दिया है, पाँच समिति, तीन गुप्तियों का स्वरूप, साधुपन तथा स्वर्ग के सुख में भेद को अच्छी तरह समझाया है। संयम से प्राप्त स्थूल सुख और नाम मात्र से भी लोगों में पूज्यभाव और पूर्णरूप से एक क्षण पालने का लाभ देवलोक की बाणवें करोड़ वर्षों का सुख तथा पूर्णरूप से पालने से अनन्त सुख की प्राप्ति होती है। इसके सिवाय शुद्ध गुरु की पहचान भी बताई है जिससे मनुष्य धोखा नहीं खावे। इस अधिकार में यति-वर्ग को भी उपदेश दिया है। यति-वर्ग प्रायः विद्वान् होते हैं पर उनमें से कितने ही अपने सही रास्ते से च्युत हो गये हैं, उनके लिये भी ग्रन्थ कर्त्ता ने कुछ कटु शब्द लिखे हैं तथा उनको संयम से प्राप्त होने वाले सुख की अक्षय प्राप्ति समझाई है, जिससे वह सत्पथ से न भटके।

इस जीव को मुनि-मार्ग अति कठिन लगता है। इसका कारण यह जीव अनादि अभ्यास के कारण इन्द्रिय सुख में और निरंकुश मन में आनन्द मानता रहा है, और मौका मिलते ही प्रमाद और कषाय में लिप्त हो जाता है। जिस प्रकार पहाड़ पर चढ़ने में तकलीफ होती है पर फिर अभ्यास होने से आरोहण सरल हो जाता है उसी प्रकार गुणस्थान पर चढ़ने में प्रबल पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है जो अति कठिन प्रतीत होता है। परन्तु एक बार उसे राग-द्वेष तथा संसार का वास्तविक रूप ज्ञात होने पर तथा आत्मिक और पौद्गलिक सुख का भेद मालूम होने पर उसे सब संसार कड़वा जहर लगने लगता है। जब उसे ज्ञानगर्भित वैराग्य हो जाता है तब वह सब सांसारिक सुखों को वमन के समान मानता है। जिस तरह वमन किये हुए पदार्थ से घृणा होती है, वह त्याज्य हो जाता है, उसी प्रकार सांसारिक सुख को जिसे एक दफा त्याग दिया, फिर वह इच्छा नहीं करता। इस प्रकार उसके लिए मुनि-मार्ग सरल हो जाता है। जिन साधुओं ने संसार के स्वरूप को अच्छी तरह से नहीं समझा अथवा जो पतित हो गए हैं या विषयों के आधीन हो, पैसा रखते हैं, स्त्री-सम्बन्ध करते हैं, धर्म के बहाने से टोना-मन्त्र आदि करते हैं। उन्हें न धर्म में श्रद्धा है और न उनको संप्रदाय में प्रचलित रीति-रिवाज का ध्यान है, ऐसे साधुओं को देखकर साधु-मार्ग पर घृणा

नहीं करनी चाहिए। साधु-मार्ग तो सर्वोत्तम है, समतामय है और मोक्ष सुख का देने वाला है। किया गया प्रयास सर्वथा सुख देने वाला है और जो लाभ प्राप्त होता है वह कभी नष्ट नहीं होता। जो साधु-मार्ग नहीं अपना सकता उसे इस ओर शुभ दृष्टि रखनी चाहिये। जिससे वह कभी न कभी इस मार्ग को अपनाने की योग्यता प्राप्त करे।

जो पुरुष मुनिमार्ग अपनाते हैं, उनका चारित्र उच्च प्रकार का होना चाहिए। जो धर्म विषय पर बड़े-बड़े उपदेश देते हैं और लोग उनको काम, क्रोध से मुक्त समझते हैं, यदि वे साधारण मनुष्य की तरह विषयांध अथवा इन्द्रियवश हों तो उनका आचरण अक्षम्य है। ऐसे साधु को समाज से तुरंत निकाल देना चाहिये। परन्तु ऐसा देखा गया है कि दृष्टि राग के कारण इनकी पूजा होती है। यह बहुत अनिष्ट है। यह पंचम काल के कुप्रभाव का ही परिणाम है।

इस अधिकार में मुनिसुन्दरसूरिजी महाराज ने कृपापूर्वक बताया है कि हे यति ! इस संसार में मनुष्य जन्म प्राप्त होने से तुझे संसार से निकलने का उत्तम साधन मिला है, इसलिए इसका पूरा-पूरा लाभ उठा, नहीं तो तू फिर पछतायेगा। इस भव में थोड़ा-थोड़ा समय मन पर अंकुश रखकर इन्द्रियों के विषयों और कषायों को त्यागे तो पीछे बहुत सुख मिलेगा, दुःख का नाश होगा और पर वस्तुओं की इच्छा मिटेगी। हे साधु ! तेरा जीवन पाँच समिति और तीन गुप्तियों से पूर्ण है और ये आठ प्रवचन माता हैं। इनको पालने के लिये तुझे यत्न करना चाहिये। यह तेरा मुख्य कर्त्तव्य है। सत्रह प्रकार का संयम और चरण करण सिपरी का पालन करना तेरा मुख्य साध्यबिन्दु होना चाहिये।

गुण प्राप्त कर जीव यदि सर्वविरति का गुण प्राप्त करने की इच्छा करे तो देशविरति टिक सकता है ऐसा शास्त्रों में कहा है। तू साधुओं पर प्रेम रख और जितना बने उतना उनके जैसा जीवन बनाने का यत्न कर। इससे तुझे बहुत लाभ होगा। ये सब बातें साधुओं के हितार्थ लिखी गई हैं। जिनसे वे अपने चारित्र को उच्च प्रकार का बनावें और अपना आत्महित साधें। यद्यपि ये सब उपदेश साधुओं के वास्ते लिखे गये हैं तथापि व्रतधारी श्रावक इन उपदेशों को ध्यान में रखकर अपनी आत्मा को उत्कृष्ट बना सकते हैं। जीव मात्र का यह अनादि स्वभाव है कि दूसरे के एक सरसों के बराबर दोप को मेरु पर्वत के बराबर देखते हैं तथा अपने मेरु समान दोप को सरसों के बराबर भी नहीं समझते। इसलिए समकित चाहे देशविरति हो अथवा सर्वविरति हो उसे दिन प्रतिदिन उच्चतर करने के लिए भव्य जीवों के गुणों के उत्सर्ग मार्ग का विचार करना चाहिए। उत्सर्ग मार्ग में प्रायः अपने हृदय की स्थिति पर विचार किया जाता है और दूसरे जीव समकितवान्, देशविरतिवान् अथवा चारित्रवान् हैं या नहीं इसकी परीक्षा बाह्य आचरणों से करते हैं। क्योंकि स्वयं अल्प ज्ञानी होने से अपने दोपों को अपवाद मानता है। दूसरों के उत्सर्ग मार्ग की परीक्षा करने पर उनको शुद्ध विशिष्ट ज्ञानी नहीं समझता उनके गुणों को न देख सकने के कारण उनकी अवज्ञा कर अनन्त काल के लिए बोधिबीज का नाश कर देता है। इसलिए अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहुस्वामीजी महाराज ने कहा है कि विहार, रहने का स्थान, आदि बाह्य अनुष्ठानों पर दृष्टि रख कर परीक्षा करनी चाहिए और सम्मान करना चाहिए। परीक्षा करने पर शुद्ध चारित्र नजर आता हो तो वन्दन-नमस्कार में हानि नहीं।

इस युग की स्थिति अर्थात् देश-काल तथा भाव देखकर उसके अनुरूप ही दूसरों में गुणों की आशा करनी चाहिए। आज का वातावरण देखकर यदि मनुष्य अपनी धार्मिक स्थिति पर विचार करे तो यह बात समझ में आ सकती है। यदि ऐसा विचार नहीं किया जावे तो मनुष्य अपने को गुणी और दूसरों को अवगुणी मानेगा और उनकी अवज्ञा कर अनन्त काल-चक्र तक संसार में भ्रमण करेगा।

मुनि-जीवन एकान्त और परोपकार-परायण है। यहाँ आलस्य-रूप निवृत्ति नहीं किन्तु प्रवृत्ति गर्भित -निवृत्ति है और पुरुषार्थ को परोपकार करने का भरपूर मौका देता है। यह मार्ग इतना शुद्ध है कि इसमें एक क्षण की प्रवृत्ति असंख्य वर्षों तक उत्कृष्ट सुख देती है।

हे मुनि ! संसार त्याग ही यति-जीवन है। केवल वेश बदलना संसार त्याग नहीं, बल्कि काम, क्रोध, लोभ, मोह, मात्सर्य इन अन्तरंग शत्रुओं का नाश करना संसार-त्याग है। इस बात को अच्छी तरह ध्यान में रखना चाहिए। जितना बने उतना लोगों का उपकार करना चाहिए। परनिन्दा, मात्सर्य, ईर्ष्या, माया आदि सुप्रसिद्ध अठारह पाप स्थानों का त्याग कर अपने कर्त्तव्य पर रात-दिन दृष्टि रखनी चाहिए और आवश्यक क्रिया में सावधान रहना चाहिए। तुझमें यदि शक्ति हो तो उपदेश देकर या ज्ञानमय लेख लिख कर अपने अनुयाइयों को सत्पथ पर लाना चाहिये।

चतुर्दश अधिकार

मिथ्यात्वादि निरोध

वंध हेतु के लिये संवर कर

मिथ्यात्वयोगाविरतिप्रमादान्, आत्मन् सदा संवृणु सौख्यमिच्छन्।
असंवृता यद्भवतापमेते, सुसंवृता मुक्तिरमां च दद्युः ॥१॥

अर्थ :—हे चेतन ! जो तू सुख की इच्छा रखता है तो मिथ्यात्व योग, अविरति और प्रमाद का संवर कर। इनका संवर न करने से संसार के दुःख बढ़ते हैं। पर यदि इनका संवर किया जाए तो मोक्ष रूपी लक्ष्मी प्राप्त होती है ॥१॥

विवेचन:—मिथ्यात्व का त्याग किये बिना समकित और विरति कुछ भी प्राप्त नहीं होती। इसलिये मिथ्यात्व का स्वरूप जानना बहुत जरूरी है। मिथ्यात्व दो प्रकार का है :—लौकिक और लोकोत्तर। ये दोनों दो दो प्रकार के हैं, एक देवगत और दूसरा गुरुगत (१) लौकिक—देवगत—मिथ्यात्व हरिहर, ब्रह्मा आदि पर—धर्म के देवता को अपने देव की तरह अंगीकार करना (२) लौकिक—गुरुदत्त—ब्राह्मण, सन्यासी आदि मिथ्यात्व उपदेश देने वाले तथा आरम्भ परिग्रह रखने वाले को गुरु मानना, नमस्कार करना, कथा सुनना तथा अन्तःकरण से मान देना (३) लोकोत्तर—देवगत—केसरियाजी की मानता करना अथवा लोक-लाभ के लिए पूजना (४) लोकोत्तर गुरुगत—शिथिलाचारी, परिग्रहधारी, कंचन-कामिनी आदि दोषों से युक्त गुरुजी, यतिजी, श्री पूज्यजी तथा कुशील वाले कुगुरु को गुरु मानना और उनकी सेवा करना अथवा इस लोक के सुख के लिए सुगुरु की सेवा करना।

मिथ्यात्व के पाँच भेद हैं :— (१) आभिग्रहिक (२) अनभिग्रहिक (३) आभिनिवेशिक (४) सांशयिक (५) अनाभोगिक। इनका स्वरूप इस प्रकार है :—

(१) आभिग्रहिक—कल्पित शास्त्र पर ममता रखना और परपक्ष पर कदाग्रह करना। हरिभद्रसूरिजी ने कहा है कि "मुझे वीर से पक्षपात नहीं और कपिल से द्वेष नहीं, जो युक्तियुक्त वचन है, वही हमें मान्य है। ऐसी बुद्धि रखना मिथ्यात्व का अभाव है। लेकिन गीतार्थ पर श्रद्धा रखना और उसको मानना दोष नहीं, क्योंकि सब मनुष्यों में परखने की शक्ति नहीं होती।

(२) अनभिग्रहिक—सभी देव वन्दनीय हैं, कोई निन्दा करने योग्य नहीं। इस प्रकार सभी गुरु तथा धर्म अच्छे हैं, ऐसा बिना परीक्षा किये मानना मिथ्यात्व है। ऐसा करना पीतल को सोने के बराबर समझना है।

(३) आभिनिवेशिक—धर्म का स्वरूप जानते हुए भी दुराग्रह से धर्म के विपरीत निरूपण करना अथवा अहंकार से नया मत चलाना और वन्दन—नमस्कार हेतु पाखण्ड रचना।

(४) सांशयिक—शुद्ध देव, गुरु और धर्म ये सच्चे हैं या झूठे, ऐसा संशय करना सांशयिक मिथ्यात्व है।

(५) अनाभोगिक—विचार शून्य एकेन्द्रियों को अथवा ज्ञान शून्य जीवों को होता है। कर्म बन्धन मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग इन चार कारणों से तथा इनके ५७ भेदों के कारण से बँधता है। इन ५७ भेदों को समझना जरूरी है, मिथ्यात्व के पाँच भेदों का वर्णन ऊपर हो चुका।

अविरति के १२ भेद—पाँच इन्द्रिय और मन का संवर न करना तथा छै काय के जीवों का वध करना—इस प्रकार बारह भेद हुए।

कषाय के पचीस भेद—जिनका वर्णन विषय कषाय द्वार में किया जा चुका। क्रोध, मान, माया, लोभ इनके प्रत्येक के चार-चार भेद हैं।

संज्वलन, अधिक से अधिक १५ दिन तक रहता है तथा देवगति देता है।

प्रत्याख्यानवरण—अधिक से अधिक चार महीने तक रहता है और मनुष्य गति देता है।

अप्रत्याख्यानी—अधिक से अधिक एक वर्ष तक रहता है और तिर्यंच गति देता है।

अनन्तानुबन्धी—यह यावज्जीवन रहता है और नरक गति देता है।

इस प्रकार प्रत्येक के चार-चार भेद होने से सोलह भेद हुए तथा नौ कषाय के हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री वेद, पुरुष-वेद तथा नपुंसकवेद सब मिलाकर २५ भेद हुए। ये सब कर्म बन्धन के प्रबल हेतु हैं।

तीन योग के १५ भेद हैं :—

प्रथम मनोयोग-मनोयोग चार प्रकार का-(१) सत्य मनोयोग अर्थात् सत्य विचार (२) असत्यमनोयोग—बुरे विचार (३) मिश्रमनोयोग—कभी शुद्ध विचार और कभी विकृत विचार (४) असत्यामृषा मनोयोग—सामान्य विचार हरदम चलते रहते हैं, यहाँ सच्चे खोटे का विचार नहीं।

द्वितीय वचन योग—ये भी मनोयोग की तरह चार प्रकार का ऊपर की तरह समझना।

तृतीय काया योग—इसके सात भेद हैं—(१) तैजस कार्मण शरीर ये जीव के साथ अनादिकाल से रहते आए हैं मरने पर साथ जाते हैं। तैजस नये भव में आहार ग्रहण करता है तथा कार्मण नये पुद्गल धारण कर शरीर रचना करता है (२) औदारिक मिश्र—अगले भव से जीव के साथ तैजस कार्मण शरीर आता है वह तथा नये शरीर जिसका (माता के उदर में) बनना आरम्भ हुआ है पर पूरा नहीं हुआ है वह औदारिक मिश्र कहलाता है (३) औदारिक—शरीर पुद्गल, अस्थि, मांस, रुधिर और चर्बीयुक्त होता है (४) वैक्रिय मिश्र—ये दृश्य होकर अदृश्य हो सकता है। भूचर से खेचर, छोटा होकर बड़ा हो सकता है। इस प्रकार अनेक रूप धारण करने वाला सात धातु रहित शरीर है (५) वैक्रिय—ऊपर बताया हुआ शरीर जब पूर्ण हो जाता है तब वैक्रिय। (६) आहारक मिश्र—चौदह पूर्वों के ज्ञानी महापुरुष कोई

सूक्ष्म शंका का समाधान करने के लिए केवली भगवान् के पास भेजने के लिए शरीर रचना करते हैं उसके सम्पूर्ण होने के पहले की अवस्था (८) आहारक—आहारक मिश्र की सम्पूर्ण अवस्था।

इस प्रकार सत्तावन बंध हेतु का संवर करने से कर्म बन्धन रुकता है। पुनर्जन्म या शरीर बंध के लिए किए गए कर्मों का क्षय होने से जीव स्वतंत्र और पूर्ण सुख प्राप्त करता है।

मनो निग्रह—तन्दुल मत्स्य

मनः संवृणु हे विद्वन्नसंवृतमना यतः ।
याति तन्दुलमत्स्यो द्राक्, सप्तमीं नरकावनीम् ॥२॥

अर्थ :—हे विद्वान्! तू मन का संवर कर; कारण कि तन्दुल मत्स्य ने मन का संवर नहीं किया तो वह तुरन्त सातवें नरक में गया ॥ २ ॥

विवेचन :—इस विषय पर नवें अधिकार में विचार किया जा चुका है। सब योगों में मनोयोग की साधना जितनी कठिन है उतनी ही लाभदायक भी है। जो पुरुष मनोयोग की साधना नहीं कर पाते और मन को स्वेच्छा से भटकने देते हैं तो उनको महान् पाप का बंध होता है। इस विषय में तन्दुल मत्स्य का दृष्टान्त मनन करने योग्य है। तन्दुल मत्स्य बड़े मगरमच्छ की आँख की पपड़ी में उत्पन्न होता है। उसका आकार चावल के बराबर होता है और आयु अन्तर्मुहूर्त की होती है। इतनी अल्प आयु में भी वह दुर्ध्यान के कारण नरक जाने का कर्म बन्धन करता है। वह इस प्रकार है:—तन्दुल मत्स्य मगरमच्छ की आँख की पपड़ी में बैठा हुआ देखता है कि मगरमच्छ मछलियों का आहार किस प्रकार करता है। मगरमच्छ अपना मुँह खोलता है और समुद्र के पानी के साथ छोटी-मोटी अनेक मछलियाँ उस के मुँह में प्रवेश करती हैं। फिर वह अपना मुँह बंद कर पानी को वापिस निकालता है तो अनेक छोटी मछलियाँ उसके दाँतों के बीच में से निकल कर बच जाती हैं। तब तन्दुल मत्स्य मन में सोचता है कि यदि मैं मगरमच्छ के स्थान पर होता तो एक मछली को भी

जीवित नहीं निकलने देता। केवल इस दुर्ध्यान से ही तन्दुल मत्स्य ने नरक जाने का कर्म बाँधा और मरकर तेंतीस सागरोपम आयु वाला सातवें नारकी का जीव हुआ। यद्यपि यह पाप केवल मानसिक था तथापि उसकी वृत्ति खराब होने से तथा मन पर अंकुश न होने से उसकी दुर्गति हुई। इसी प्रकार जो मनुष्य अपने मन पर अंकुश नहीं रखता तथा हरदम बुरा सोचता है उसकी दुर्गति होती है। उनको इस दृष्टान्त से शिक्षा लेनी चाहिए।

मन का वेग—प्रसन्नचन्द्र मुनि का दृष्टान्त

प्रसन्नचन्द्रराजर्षेर्मनः प्रसरसंवरौ ।
नरकस्य शिवस्यापि, हेतुभूतौ क्षणादपि ॥२॥

अर्थ :—क्षण भर में प्रसन्नचन्द्र राजर्षि मन की प्रवृत्ति और निवृत्ति के अनुक्रम से नरक और मोक्ष का कारण हुआ ॥२॥

विवेचन :—मन का वेग बड़ा प्रबल होता है। जब मन शुद्ध अध्यवसाय में जोर पकड़ता है तो कर्म रूपी मल आत्मा से हट जाता है और आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में आ जाती है। यह बात राजर्षि प्रसन्नचन्द्र मुनि के चरित्र से स्पष्ट हो जाती है। राजा प्रसन्नचन्द्र क्षितिप्रतिष्ठित नगरी के एक प्रसिद्ध तथा प्रभावशाली राजा थे। उनकी नगरी अति सुन्दर और धनधान्य पूर्ण थी। उसकी शोभा दूर-दूर तक फैली हुई थी। राजा न्यायी तथा प्रजा प्रिय था। उसके राज्य में कोई दुःखी नहीं था। एक समय भगवान् महावीर का चतुर्मास इस नगरी में हुआ। देवों ने आकर समोसरण की रचना की। राजा यह सुन कर बहुत प्रसन्न हुआ और भगवान् की वन्दना के लिए गया। भगवान् का उपदेश सुन राजा को वैराग्य हो गया। अपने बालक पुत्र को राज-गद्दी पर बैठा कर भगवान् से दीक्षा ले ली। घोर तपस्या के कारण राजर्षि के नाम से प्रसिद्ध हुए। एक समय राजर्षि नगरी के बाहर कायोत्सर्ग ध्यान में खड़े थे। देवसंयोग से उसी नगरी के पास उद्यान में भगवान् महावीर का समोसरण हुआ जहाँ लोग भगवान् की वन्दना करने को उलट पड़े। वन्दना करने वालों में क्षितिप्रतिष्ठित नगरी के दो व्यापारी भी थे। उन्होंने प्रसन्नचन्द्र राजर्षि को कायोत्सर्ग ध्यान में

देखा। वे आपस में बात करने लगे। एक ने कहा "ओहो! इन्होंने राज्य छोड़ संयम लिया है अतः धन्य हैं। ये बड़े भाग्यशाली हैं" इतने में दूसरे ने कहा "क्या खूब, इनको धन्यवाद किस बात का? इनको उलाहना देना चाहिए, क्योंकि इन्होंने अपने बालक पुत्र को बिना आगा-पीछा सोचे गद्दी पर बिठा दीक्षा ले ली और स्वयं कृतकृत्य हुए। बेचारे बालक को तथा प्रजा को दुष्ट लोग सता रहे हैं। इस कारण इनका मुँह भी नहीं देखना चाहिए। इस प्रकार बातें करते करते वे तो आगे निकल गये। राजर्पि इन बातों को सुन ध्यान-भ्रष्ट हो गये और अपनी साधु-अवस्था भूल गए और मन ही मन विचार करने लगे कि मेरे बैठे मेरे पुत्र का ऐसा हाल कैसे हो सकता है, और मन ही मन में लोगों से घोर युद्ध करने लगे। इस प्रकार इधर प्रसन्नचन्द्र मुनि के मन में युद्ध चल रहा था और उसी समय राजा श्रेणिक जो प्रभु-वन्दना करने जा रहे थे राजर्षि को देखा और वन्दना की। परन्तु राजर्पि का ध्यान इस ओर नहीं गया। राजा श्रेणिक समझे कि राजर्पि शुक्ल ध्यान में लीन हैं। वे आगे बढ़े और भगवान् के समोसरण में पहुँच और वन्दना कर भगवान् से पूछा "हे भगवन्! राजर्पि का इस समय यदि काल बुलावा करे तो वे कहाँ जावें?" भगवान् ने फरमाया "सातवें नरक में" भगवान् के ये वचन सुन राजा श्रेणिक चकराया।

अब यहाँ यह देखना है कि राजर्षि की परिस्थिति ऐसी क्यों हुई। जिस समय श्रेणिक ने यह प्रश्न भगवान् से किया उस समय राजर्षि मानसिक युद्ध में लिप्त थे अतएव भगवान् ने कहा कि सातवें नर्क में जावेंगे। युद्ध चलते-चलते सब शत्रुओं का नाश हो चुका था केवल एक ही शेष रहा था और राजर्षि के ध्यान में ऐसा प्रतीत हुआ कि उसको मारने को अब उनके पास कोई शस्त्र भी नहीं रहा। अतएव उन्होंने अपने लोह के टोप से मारने को अपना हाथ सिर की तरफ बढ़ाया तो मालूम हुआ कि सिर लोच किया हुआ है। यह देख वे चेते—उनकी ज्ञान दृष्टि जगी, विपर्यास भाव जागा और संवेग प्राप्त हुआ। उन्होंने विचार किया—यह क्या करता है? किसका पुत्र और किसका राज्य? ऐसे शुद्ध अध्यवसाय में ध्यानारूढ होते ही अपने आचरण की निन्दा करना शुरू की और मन के बोध कर्म मन से ही खपा दिये। थोड़ी

देर बाद राजा श्रेणीक ने वीर प्रभु से पूछा कि कदाचित् राजर्षि अब काल करें तो कहाँ जायेंगे। प्रभु ने उत्तर दिया "अनुत्तर विमान में देव होंगे।" चकित होकर राजा ने इसका कारण पूछा तो भगवान् ने मन का स्वरूप, उसका जोर, उसे वश में करने से अनन्त गुणों की प्राप्ति आदि समझाया। इतने में देव दुंदुभि की आवाज हुई। श्रेणीक राजा ने पूछा हे भगवान् यह दुंदुभि किसलिये हुई है। प्रभु ने कहा कि राजर्षि को केवलज्ञान हुआ है।

इस दृष्टान्त से मनोराज्य की भावना समझी जा सकती है। मन का बंधारण भी समझने जैसा है। इसके लिये नीचे के दो श्लोक मनन करने योग्य हैं।

मन की अप्रवृत्ति-स्थिरता

मनोऽप्रवृत्तिमात्रेण, ध्यानं नैकेन्द्रियादिषु।
धर्म्यशुक्लमनःस्थैर्यभाजस्तु ध्यायिनः स्तुमः ॥४॥

अर्थ :—विषयों की ओर मन की प्रवृत्ति न करने मात्र से ही ध्यान नहीं होता। एकेन्द्रिय आदि प्राणी भी धर्म-ध्यान और शुक्ल ध्यान के कारण मन की स्थिरता के भाजनभूत होते हैं, उनकी हम स्तुति करते हैं ॥४॥

विवेचनः—श्री अध्यात्मोपनिषद् (योग शास्त्र) के पाँचवें प्रकाश में अनुभवी योगी श्रीमान् हेमचन्द्रसूरिजी कहते हैं कि पवनरोध आदि कारणों से प्राणायाम का स्वरूप अन्य दर्शनकारों ने बताया है वह बहुत उपयोगी नहीं, वह तो कालज्ञान के लिये और शरीर आरोग्य के लिये है। इससे मन की ज्ञान की ओर प्रवृत्ति नहीं होती, मन को इस साधना में नहीं लगाना चाहिये, वह तो मन का नाश करने वाली साधना जैसा है। एकेन्द्रिय तथा विकलेन्द्रिय में मन नहीं होता, परन्तु इस

उसे स्थिरता प्राप्त करानी, यह आदरणीय है। 'हठयोग' जैन शास्त्र के मतानुसार बहुत कम लाभप्रद है। ध्यान का स्वरूप तो योगशास्त्र द्वारा जानना चाहिये, यहाँ तो इतना ही कहना है कि धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान में मन को लगाकर स्थिरता प्राप्त करने से लाभ होता है।

चित्त स्थिरता प्राप्त करने का उपाय है मन को निरंतर सुध्यान में प्रेरित करना। सुध्यान से प्राणी को इन्द्रियों के अगोचर आत्मसंवेद्य सुख की प्राप्ति होती है।

सुनियन्त्रित मन वाले पवित्र महात्मा

सार्थं निरर्थकं वा यन्मनः सुध्यानयन्त्रितम् ।
विरतं दुर्विकल्पेभ्यः पारगांस्तान् स्तुवे यतीन् ॥५॥

अर्थ :—प्रयत्नों का फल सार्थक होगा या निष्फल इस बात का विचार किये बिना जिसका मन सुध्यान की तरफ लगा रहता है और जो दूषित विकल्पों से दूर रहते हैं ऐसे संसार सवह से ऊपर उठे हुए यतियों की हम प्रशंसा करते हैं। ॥५॥

विवेचन :—मनुष्य को शुभ परिणाम ही मिलेंगे ऐसा विचार कर कार्य करना चाहिए। ऐसे शुभ ध्यान से काम का खराब परिणाम नहीं होता है। पर किसी भी कारण से परिणाम यदि खराब आवें तो भी कर्म करने वाले को पाप का अनुबन्ध नहीं होता और सिर्फ इसे क्षयोपशम के कारण हुआ समझने की दीर्घ दृष्टि रखनी चाहिए। जो मनुष्य सदा अच्छे कार्य करने की इच्छा रखता है और खराब संकल्प नहीं करता वह वास्तव में भाग्यशाली है। मन में कुविकल्प करने से अनेक पापबन्ध होते हैं। जिनकी कल्पना शक्ति पर सुविचारों का नियंत्रण नहीं है उनकी आत्मा संसार-समुद्र में मनोविकारों के तूफानों में गोता खाती रहती है। इसलिये अनियन्त्रित मन के संकल्प विकल्पों को अच्छी तरह समझ कर आर्तध्यान और रौद्रध्यान को छोड़ देना चाहिये और धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान में लगा देना चाहिये।

वचन अप्रवृत्ति—निरवद्य वचन

वचोऽप्रवृत्तिमात्रेण, मौनं के के न बिभ्रति ।
निरवद्यं वचो येषां, वचोगुप्तांस्तु तान् स्तुवे ॥६॥

अर्थ :—केवल जिन पुरुषों के वचन की अप्रवृत्ति ही है ऐसे कौन मौनी नहीं हो जाते (अर्थात् केवल वचन की अप्रवृत्ति से मौन धारण किया हुआ लाभकारी नहीं) परन्तु जिनके वचन गुप्त है अथवा जो प्राणी निरवद्य वचन बोलते हैं उनकी हम प्रशंसा करते हैं ॥६॥

भावार्थ:—जिनजीवों को कुदरती तौर पर बोलने की शक्ति नहीं जैसे एकेन्द्रिय से लेकर चारेन्द्रिय तक, और तिर्यञ्च गति के पंचेन्द्रिय जीव तथा जो रोग आदि के कारण बोलने में असमर्थ हैं वे नहीं बोलते तो इस मौन से उनको कोई लाभ नहीं। परन्तु जो बोलने की शक्ति होने पर भी अपनी वाणी पर अंकुश रखते हैं, जो सत्य, प्रिय, मीठे और हितकारी वचन बोलते हैं और जरूरत से अधिक नहीं बोलते वे ही संयमवान हैं, वे ही आदरणीय हैं।

निरवद्य वचन—वसुराजा

निरवद्यं वचो ब्रूहि सावद्यवचनैर्यतः ।
प्रयाता नरकं घोरं, वसुराजादयो द्रुतम् ॥७॥

अर्थ:—तू निरवद्य (निष्पाप) वचन बोल, क्योंकि सावद्य वचन बोलने से वसुराजा आदि एकदम घोर नरक में गये ॥७॥

विवरण :—मनुष्य को सदा निरवद्य अर्थात् पापरहित वचन बोलना चाहिये। निरवद्य वचन में तीन गुण होते हैं। वे सत्य, प्रिय और हितकारक होते हैं। यदि वचन सत्य हों और अहित करने वाले हों तो वे निरवद्य नहीं। सावद्य वचन बोलने से वाणी पर अंकुश नहीं रहता, चित्त में क्षोभ होता है और बोलने वाले पुरुष के प्रति लोगों में मान नहीं रहता। निरवद्य वचन बोलने वाले की गति अच्छी होती है। सावद्य वचन बोलने वाले की गति बुरी होती है। इस विषय में वसुराज राजा का दृष्टान्त मनन करने योग्य है।

शुक्तीपुर नाम की एक नगरी थी। वहाँ अभिचन्द्र नाम का अति प्रतापी राजा राज्य करता था। उसके सत्य बोलने वाला वसु नाम का एक पुत्र था। वह बाल्यवस्था से महा बुद्धिमत्ता तथा सत्य वचन के लिये प्रसिद्ध था। वसु के पिता ने वसु को क्षीरकंदक नामक आचार्य के पास अभ्यास करने के लिए भेजा। उसके साथ आचार्य का पुत्र पर्वत तथा एक नारद नाम का ब्राह्मण पुत्र भी अभ्यास करते थे। इन तीनों शिष्यों में बहुत प्रेम था। एक समय इनके गुरु क्षीरकंदक सो रहे थे और दो चारण मुनि आपस में बात करते आसमान में चले जा रहे थे। उनमें से एक ने कहा कि इन तीन शिष्यों में से दो नरक में जायेंगे और एक स्वर्ग में जायेगा। गुरु महाराज को इनमें से कौन स्वर्ग जायगा यह जानने की इच्छा हुई। गुरु महाराज ने आटे के तीन मुर्गे बनवाये तथा तीनों शिष्यों को एक एक मुर्गा देकर कहा कि जहां कोई नहीं देखता हो ऐसे स्थान पर इन मुर्गों को मार आओ। एक शिष्य पर्वत पर और वसु एकान्त जंगल में ले गए और मार कर ले आये। परन्तु नारद मुर्गे को लेकर एकान्त स्थान देख कर सोचने लगा कि यहां कोई नहीं देखता है परन्तु मैं स्वयं तो देखता हूँ तथा ज्ञानी महाराज तो सर्वत्र देखते हैं इसलिये संसार में ऐसा कोई स्थान नहीं जहां कोई नहीं देखता हो। उसने यह भी सोचा कि गुरु महाराज कभी ऐसा पाप कर्म करने को नहीं कह सकते। इसमें जरूर कोई भेद है, यह समझ कर मुर्गे को बिना मारे गुरुजी के पास आकर बोला "गुरु महाराज मुझे तो कोई स्थान ऐसा नहीं दीखा जहां कोई न देखता हो। अतएव मैंने मुर्गे को नहीं मारा" ये वचन सुन गुरु महाराज प्रसन्न हुए और मन में समझ गये कि यह जीव दयावान् है, यह स्वर्ग में जायगा। समय बीतने पर वसु अपने पिता के स्थान पर राजा हुआ और पर्वत पिता के स्थान पर आचार्य बनकर शिष्यों को पढ़ाने लगा। वसुराज का नाम दुनिआं में सत्यवादी तथा न्यायी राजा के नाम से प्रसिद्ध हुआ। वह सदा सत्य बोलता और न्याय करता था।

इस प्रकार बहुत समय बीत गया। एक समय एक शिकारी को स्फटिक की शिला मिली। उसने उसे राजा वसु को दी। वसु

राजा ने इस पारदर्शक शिला पर अपना सिंहासन रखा। लोगों को ऐसा भान हुआ कि राजा का सिंहासन अधर हवा में ठहरा हुआ है और उन्होंने यह भी समझा कि यह सत्य के प्रभाव से है। अब चारों तरफ राजा की प्रसिद्धि खूब फैल गई। अनेक राजा उसका मान करने लगे। एक समय नारद घूमता २ इस नगरी में अपने मित्र से मिलने आया। वहां पंडित पर्वत को ऋग्वेद पढ़ाते देखा। उसने शिष्यों को समझाया कि 'अज' शब्द का अर्थ बकरा है अतएव जहां अज से यज्ञ करो लिखा है वहां बकरे का बलिदान करना बताया है। यह बात सुन नारद चकित हो गया और भूल सुधारने के अभिप्राय से पर्वत से कहा "हे भाई तू ऐसा गलत अर्थ क्यों करता है? गुरुजी ने तो अज शब्द का अर्थ बोए जाने से जो धान नहीं उगे अर्थात् तीन साल पुराना धान जो बोए जाने से नहीं उगता ऐसा निर्जीव धान बताया है। तू गलत अर्थ बता कर पाप बंध कराने वाला और परभव में दुर्गति में डालने वाला अर्थ क्यों बताता है?" पर्वत ने इसमें अपना अपमान समझ कर कहा कि "नहीं गुरुजी ने तो अज शब्द का अर्थ बकरा ही बताया है। तू गुरु और वेद का विपरीत अर्थ कर पाप बटोरता है" इस बहस में यह तय हुआ कि अपने सहपाठी वसुराजा से जो सत्यवादी और न्यायी है, इस शब्द का अर्थ पूछा जावे और जिसका अर्थ गलत हो उसकी जिह्वा काटी जावे। नारद ने यह बात स्वीकार करी। इतने में पर्वत की माता जो यह सब विवाद सुन रही थी, दौड़ी आयी और पुत्र से बोली कि "मुझे अच्छी तरह याद है कि तेरे पिताजी ने "अज" शब्द का अर्थ तीन साल पुराना धान बताया था। तूने जिह्वा कटाने का प्रण करके घोर संकट मोल ले लिया"। तब पर्वत बोला "हे माता! मैं तो कह चुका अब बात फिरा नहीं सकता, अब जो तेरी समझ में आवे कर"। माता को पुत्र पर स्वाभाविक प्रेम होता है। वह पुत्र के लिये सब कुछ करने को तैयार रहती है। वह दौड़ी दौड़ी राजा वसु के पास गई। वसु राजा ने अपने गुरु की स्त्री का मान किया और कहा "हे माता! मेरे योग्य सेवा बता, मैं तेरे दर्शन कर बहुत प्रसन्न हुआ" माता ने कहा "मैं पुत्र की भिक्षा माँगने आई हूँ, पुत्र बिना सब धन

धान्य वृथा है" वसु राजा बोला "हे माता ! तू यह क्या कहती है पर्वत तो गुरु-पुत्र है इसलिए गुरु तुल्य एवं पूज्य है "ऐसे किसकी मौत आई है जो उसे मारने को उद्यत हुआ है' इस पर माता ने सब बात बताई और नारद तथा उसके पुत्र पर्वत के बीच "अज" शब्द के अर्थ बाबत जो जिह्वा कटाने की शर्त हुई थी उससे अवगत किया और प्रार्थना की कि अज शब्द का अर्थ जब उससे पूछा जाय तो "बकरा" कहना। इस पर वसु राजा ने कहा कि "हे माता ! मैं झूठ कैसे बोलूं, प्राण जावे तो भी सत्यव्रती कभी झूठ नहीं बोलते" और पाप से डरने वालों को कभी झूठ नहीं बोलना चाहिये। इतना सुन माता बोली "तुझे पर्वत के जीने की चिन्ता नहीं तुझे तो अपनी बात का ध्यान है" यह कहकर रोने लगी। माता को रोते देख वसु राजा का दिल पिघल गया और माता की इच्छानुसार अर्थ बताना स्वीकार किया। दूसरे दिन पर्वत और नारद दोनों राज सभा में आये और "अज" शब्द का अर्थ पूछा और कहा हे राजा ! तू सत्यवादी है और तेरी बात सर्वमान्य है। जो गुरुजी ने अर्थ बताया है उसे तू बता। राजा माता की मान्यता का मान कर "अज" शब्द का अर्थ गुरुजी ने "बकरा" बताया ऐसा कहा। वसु राजा का सिंहासन स्फटिक पर था इसलिये अधर दृष्टि-गोचर होता था और लोग इसे सत्य का प्रताप समझते थे। राजा का झूठ बोलना था कि सत्य के कारण देव ने जो राजा की सेवा में रहता था कुपित होकर सिंहासन सहित राजा को जमीन पर दे मारा, राजा मर कर नरक में गया। सत्य वचन का महत्त्व इस कथा में स्पष्ट है:—

दुर्वचनों का भयंकर परिणाम

इहामुत्र च वैराय, दुर्वाचो नरकाय च।
अग्निदग्धाः प्ररोहन्ति, दुर्वाग्दग्धाः पुनर्न हि ॥८॥

अर्थः—दुष्ट वचन इसलोक और परलोक में अनुक्रम से वैर कराता है और नरक गति मिलती है। अग्नि से जला हुआ (पौधा)

फिर भी ऊग जाता है, पर दुष्ट वचन से जले हुए हृदय में प्रेम अंकुर दुबारा नहीं फूटता ॥८॥

भावार्थः—दुर्वचन से इसलोक में वैर होता है और परलोक में नरक मिलता है। हथियार का मारा न भी मरे पर वचन बाण का मारा मर जाता है। जली हुई घास ऊग जाती है परन्तु जला हुआ प्रेम-अंकुर नहीं पनपता। इसलिये कभी कटु वचन नहीं बोलना चाहिये।

तीर्थंकर महाराज और वचन-गुप्ति की महत्ता

अत एव जिना दीक्षाकालादाकेवलोद्भवम्।
अवद्यादिभिया ब्रूयुर्ज्ञानत्रयभृतोऽपि न ॥९॥

अर्थः—इसलिये (ऊपर कहे कारण से) तीर्थंकर भगवान् तीन ज्ञान होने पर भी दीक्षा काल से लेकर ज्ञान प्राप्ति पर्यंत पाप के डर से कुछ भी नहीं बोलते ॥९॥

भावार्थः—सावद्य वचन बोलने से अनिष्ट होता है इसलिये तीर्थंकर भगवान् भी छद्मस्थ अवस्था में मौन रहते हैं। जब भगवान् जैसे तीन ज्ञान के धारक भी पाप के डर से नहीं बोलते तो अपने को भी बहुत सोच-विचार कर बोलना चाहिये जिससे व्यर्थ में कर्म बन्धन न हो।

काय संवर—कछवे का दृष्टान्त

कृपया संवृणु स्वाङ्गं कूर्मज्ञातनिदर्शनात्
संवृतासंवृताङ्गा यत् सुखदुःखान्यवाप्नुयुः ॥१०॥

अर्थ—(जीव पर) दया प्रकट करता हुआ तू अपने शरीर का संवर कर कछुए के दृष्टान्त के अनुसार शरीर का संवर करने वाला सुख और संवर नहीं करने वाला दुःख पाता है ॥१०॥

भावार्थः—जिस प्रकार मन और वचन की सावद्य प्रवृत्ति हानिकारक होती है वैसे ही काया की भी प्रवृत्ति सावद्य हो तो अनन्त संसार का

परिभ्रमण कराती है। काया की प्रवृत्ति शुभ हेतु पूर्वक होनी चाहिए। विना मतलब और हानिकारक काया की प्रवृत्ति संवर करने (रोकने) की वहुत आवश्यकता है। इसे दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं। किसी स्थान पर दो कछवे रहते थे। किसी समय एक हिंसक जानवर उनके आवास की तरफ से निकला उसे देखकर दोनों कछवों ने अपना सिर तथा पैर अपने शरीर के अन्दर कर लिया। इससे उस हिंसक पशु का कुछ जोर नहीं चला। वह थोड़ी देर कछवा सिर और पैर कव वाहर निकाले इसकी वाट देखने लगा। इतनी देर में एक कछवे ने घबड़ा कर अपना सिर और पैर वाहर निकाला। निकालते ही हिंसक जीव उस पर टूट पड़ा और उसे मार कर खा गया। परन्तु दूसरे कछवे ने वहुत देर हो जाने पर भी अपने सिर तथा पैरों को वाहर नहीं निकाला। हिंसक जीव हार-थक कर चला गया, जिससे कछवे के प्राण वच गये।

इन दोनों कछवों में अपने अंगों को छिपाये रखने वाला तो वच गया और सुखी हुआ और दूसरे ने दुःख पाया। इसलिए काया का संवर करना भी वहुत लाभदायक है।

काया की अप्रवृत्ति तथा काया का शुभ व्यापार

कायस्तम्भान्न के के स्युस्तरुस्तम्भादयो यताः।
शिवहेतुक्रियो येषां, कायस्तांस्तु स्तुवे यतीन् ॥११॥

अर्थ :—केवल काया का संवर करके वृक्ष तथा थंभा आदि किसने संयम पालन किया? पर जिनका शरीर मोक्ष प्राप्ति के लिए क्रियावान् है ऐसे यति की हम स्तुति करते हैं ॥११॥

भावार्थ :—जो बातें वचन-योग के विषय में कही गई हैं वे ही काया की अप्रवृत्ति के विषय में सही हैं। केवल काया की अप्रवृत्ति से कोई लाभ नहीं। शरीर की प्रवृत्ति होनी चाहिए और उसके द्वारा शुभ क्रियाओं का अनुष्ठान करना चाहिये। इस प्रकार मन, वचन और काया की प्रवृत्ति के विषय में उपदेश हुआ।

श्रोत्रेन्द्रिय संवर

श्रुतिसंयममात्रेण, शब्दान् कान् के त्यजन्ति न ।
इष्टानिष्टेषु चैतेषु, रागद्वेषौ त्यजन्मुनिः ॥१२॥

अर्थ :—कौन पुरुष शब्द सुनकर कान के संयम मात्र से सुनना त्याग सकता है। परन्तु जो पुरुष इष्ट और अनिष्ट शब्द सुनकर राग द्वेष नहीं करे उसे मुनि समझना ॥१२॥

चारेन्द्रिय जीवों तक जीव में सुनने की शक्ति नहीं होती उसी प्रकार बहरा आदमी भी नहीं सुन सकता। कानों में उंगली डालकर भी सुनना रुक सकता है। पर इस प्रकार के संयम से कोई लाभ नहीं। परन्तु कानों से मधुर शब्द या गायन सुनकर अथवा कर्कश या गुस्से से भरे शब्द सुनकर भी जो समभाव में रहे वही धन्य है। ऐसे मनुष्य मुनि हैं।

चक्षु इन्द्रिय संवर

चक्षुः संयममात्रात्के, रूपालोकांस्त्यजन्ति न ।
इष्टानिष्टेषु चैतेषु, रागद्वेषौ त्यजन्मुनिः ॥१३॥

अर्थ:—केवल चक्षु के संयम से कौन पुरुष रूप देखना नहीं छोड़ता ? पर इष्ट और अनिष्ट रूप देख कर जो राग द्वेष नहीं करता वही वास्तविक मुनि है ॥१३॥

भावार्थ :—त्रीइन्द्रिय जीवों तक जीवों के चक्षु नहीं होते, वे देख नहीं सकते तथा जो अंधे हैं वे भी देख नहीं सकते। इसलिये ये चक्षु संवर नहीं हुआ। इसी तरह कोई आँखें बन्द करले तब भी वह संवर नहीं हुआ। इस तरह कुछ न दीखने से कोई लाभ नहीं होता। परन्तु स्त्री का सुन्दर मुख, शरीर और सुन्दर चाल देख कर भी जिस मनुष्य का मन चंचल नहीं होता और कुरूप दुर्गन्धयुक्त वेडौल आकृति देख घृणा नहीं करता और जिसका दोनों अवस्थाओं में चित्त एक समान रहे वही पुरुष धन्य है। उसे हम नमस्कार करते हैं। यही चक्षुइन्द्रिय संवर है। जो पुरुष रूप देख चलित हो जाता है उसका अंत पतंगे के समान होता है।

घ्राणेन्द्रिय संवर

घ्राणसंयममात्रेण, गन्धान् कान् के त्यजन्ति न ।
इष्टानिष्टेषु चैतेषु, रागद्वेषौ त्यजन्मुनिः ॥१४॥

अर्थः—नासिका के संयम मात्र से कौन गंध नहीं त्यजता ? किन्तु सुगन्ध या दुर्गन्ध से जिसे राग द्वेष नहीं होता वही मुनि है।

भावार्थः—फूल अथवा इत्र की सुगन्ध से जिसे कोई सुख अनुभव नहीं होता और न बदबू से घृणा होती है तथा दोनों स्थितियों में जो एक समान रहता है वही मुनि है। वह धन्य है। ऐसे घ्राणेन्द्रिय पर संयम रखने वाले को हम नमस्कार करते हैं। घ्राणेन्द्रिय के वशीभूत हो भँवरा संध्या समय कमल में बंद हो जाता है और प्रातःकाल वह फूल के साथ हाथी के मुँह में जाकर मरता है।

रसनेन्द्रिय संवर

जिह्वासंयममात्रेण, रसान् कान् के त्यजन्ति न ।
मनसा त्यज तानिष्टान्, यदीच्छसि तपःफलम् ॥१५॥

अर्थः—जिह्वा के संयम मात्र से रस का स्वाद कौन नहीं छोड़ता ? परन्तु जो तप का लाभ लेना हो तो जो वस्तु स्वादिष्ट लगती हो उसको छोड़ दे ॥१५॥

भावार्थः—जीभ के स्वाद में लीन होना बहुत हानिकारक है। संसार जीभ के स्वाद में सब भक्ष्य अभक्ष्य खाकर बहुत आनन्द मानता है। संसारी जीव ने अनन्त भवों में अनन्त खाद्य सामग्री खाई परन्तु उसे न कभी तृप्ति हुई न होने वाली है। वे ही मनुष्य धन्य हैं जो स्वादिष्ट वस्तु खाने का लोभ नहीं करते और न स्वादिष्ट वस्तु से घृणा करते हैं। जो अपनी रसनेन्द्रिय का संवर करते हैं वे धन्य हैं उन्हें तप का फल होता है।

स्पर्शनेन्द्रियसंयम

त्वचः संयमात्रेण, स्पर्शान् कान् के त्यजन्ति न।
मनसा त्यज तानिष्टान् यदीच्छसि तपःफलम् ॥१६॥

अर्थ :—स्पर्श मात्र नहीं करना चमड़ी का संयम नहीं है, यदि तुझे तप का फल लेना है तो इष्ट स्पर्श का मन से त्याग कर ॥१६॥

भावार्थः—किसी भी इन्द्रिय के वशीभूत होने से संसार-भ्रमण करना पड़ता है परन्तु स्पर्श-इन्द्रिय पर काबू रखना सबसे कठिन है। इसके आधीन हुआ मनुष्य भवोभव दुःख पाता है। उसके दोनों भव नष्ट हो जाते हैं। जो मनुष्य सुन्दर स्त्री अथवा बालक देखकर राग नहीं करता और कुष्ट आदि चमड़ी के रोग से घृणित और असुन्दर शरीर देख कर घृणा नहीं करता, जो पुरुष मच्छर डांस, शीत या गर्मी के कारण दुःखी नहीं होता और किसी भी अवस्था में उससे अपने मन में द्वेष नहीं करता उसकी यह अवस्था स्पर्शेन्द्रिय-संयम है। जो पुरुष स्पर्शेन्द्रिय संयम करे वह धन्य है। स्पर्शेन्द्रिय के कारण हाथी जैसा शक्तिमान् जीव भी बन्धन में पड़ जाता है।

वस्तिसंयम (ब्रह्मचर्य)

बस्तिसंयममात्रेण, ब्रह्म के के न बिभ्रते।
मनः संयमतो धेहि, धीर ! चेत्तत्फलार्थ्यसि ॥१७॥

अर्थः—कौन पुरुष मूत्राशय के संयम से ब्रह्मचर्य नहीं रखता ? परन्तु हे धीर ! यदि तुझे ब्रह्मचर्य के फल की इच्छा हो तो मन के संयम से ब्रह्मचर्य का पालन कर ॥१७॥

भावार्थः—स्पर्शेन्द्रिय का विचार ऊपर हो चुका और स्त्री-विषय भी इसी में सम्मिलित है। यह विषय बहुत महत्व का है इसलिये अलग श्लोक में इसकी और व्याख्या की है। यह इन्द्रिय अति भयंकर है। अन्य इन्द्रियों के भोगते समय ज्ञान प्राप्त हो सकता है परन्तु स्त्री-संयोग करते समय तो संसार-भ्रमण के सिवाय कुछ हाथ नहीं आता। सुन्दर गाना सुनते, अच्छी गन्ध लेते और कुछ

उत्तम पदार्थ खाते आत्म-स्वरूप का ध्यान किया जा सकता है और पौद्गलिक भाव का त्याग कर ज्ञान प्राप्त हो सकता है। परन्तु स्त्री-प्रसंग से तो एकान्त दुर्ध्यान और महा क्लिष्ट अध्यवसाय होता है। इस प्रकार स्त्री-संयोग तो एकान्तिक अधःपतन का कारण है। केवल शारीरिक कारण से अथवा अन्य किसी भी कारण से स्त्री-संयोग नहीं कर सकता वह संयम नहीं है। संयम तो तभी सही है जबकि सब संयोग अनुकूल हो तो भी मन को वश में रख स्त्री-संयोग की अभिलाषा न करे। इस विषय की 'स्त्री-ममत्व त्याग' अधिकार में विस्तार पूर्वक व्याख्या की गई है। इस विषय में स्थूलिभद्रजी का दृष्टान्त मनन करने योग्य है। स्थूलिभद्रजी बड़े भाग्यशाली थे। उनके पास अथाह धन था। वे सदा वेश्या के घर सुख से रहते थे। उनको वैराग्य हुआ, उन्होंने दीक्षा ली और मन, वचन और काया से पूर्ण ब्रह्मचर्य की रक्षा की। अपनी दृढ़ता की परीक्षा करने को उन्होंने उसी वेश्या के यहां चतुर्मास किया। वेश्या ने उनको अपने वश में करने के लिए अनेक प्रकार के हाव-भाव दिखाये, उत्तम से उत्तम पदार्थ खिलाये, परन्तु वह उनको किसी भी तरह चलित नहीं कर सकी। वह हार-थक उनके पैरों में पड़ गयी। धन्य हैं ऐसे महात्मा जिनके चरित्र याद कर लोग अपना कल्याण कर सकते हैं।

समुदाय से पाँचों इन्द्रियों के संवर का उपदेश

विषयेन्द्रियसंयोगाभावात्के के न संयताः।
रागद्वेषमनोयोगाभावाद्ये तु स्तवीमि तान् ॥१८॥

अर्थः—विषय और इन्द्रियों का संयोग न होने से कौन नहीं संयम रखता ? परन्तु जो पुरुष मन के साथ राग-द्वेष का योग नहीं होने देता उसका मैं स्तवन करता हूँ ॥१८॥

भावार्थ—मधुर स्वर, सुन्दर रूप, सुगन्धित पुष्प, मिष्ट पदार्थ और सुकोमल स्त्री, ये इन पाँचों इन्द्रियों के विषय हैं। यदि इन विषयों का इन्द्रियों से मिलाप नहीं हो अर्थात् कान से मधुर स्वर सुने नहीं, नेत्रों से सुन्दर स्वरूप देखे नहीं, नाक से सुगन्ध सूंघे नहीं, रसना से मीठी वस्तु चखे नहीं, स्त्री से सम्बन्ध करने का मौका मिले नहीं, ऐसी स्थिति

में कोई कहे, मैंने संयम रखा तो यह संयम नहीं। परन्तु जब सब संयोग हो और इन पाँचों इन्द्रियों को वश में रखे और इन विषयों के प्रति न राग रखे और न द्वेष तभी पाँचों इन्द्रियों का संयम कहलाता है। जो पुरुष सब स्थितियों में संयम रखता हो और विषयों के आधीन नहीं होता वही धन्य है और स्तुति करने योग्य है।

कायसंवर–करट और उत्करट का दृष्टान्त

कषायान् संवृणु प्राज्ञ, नरकं यदसंवरात् ।
महातपस्विनोप्यापुः, करटोत्करटादयः ॥१६॥

अर्थः– हे विद्वान्! तू कषाय का संवर कर। कषाय संवर नहीं करने से करट और उत्करट जैसे महान् तपस्वी भी नरक में जाते हैं ॥१९॥

विवेचनः—कषाय का विवेचन सातवें अधिकार में हो चुका है। इसलिये यहाँ विशेष लिखने की जरूरत नहीं। सबका सार यह है कि किसी भी स्थिति में कषाय नहीं करना चाहिये। यदि कषाय करना ही पड़े तो आत्मिक चिन्ता करनी। कषाय से संसार वृद्धि होती है, कषाय से बहुत हानि होती है, दुर्गति होती है, इस पर एक दृष्टान्त यहां देते हैं।

करट और उत्करट दो भाई थे। ये अध्यापक का कार्य करते थे। किसी कारण से इनको वैराग्य हो गया और तापस की दीक्षा ली। ये बहुत तपस्या करते और गाँवों में विहार करते। एक चतुर्मास में ये दोनों भाई एक किले के नाले के पास ध्यान लगाकर खड़े हो गये। यदि वर्षा पड़े तो इनको कष्ट होगा यह समझ कर क्षेत्र-देवता ने इस गाँव में वर्षा बन्द कर दी पर अन्यत्र अच्छी वर्षा हुई। उस गाँव के लोग वर्षा न होने से बहुत दुखी हुए। वे इसका कारण ढूँढने लगे तो उन्हें ज्ञात हुआ कि इन तपस्वियों के कारण से मेह नहीं बरसता। सब गाँव वाले इनको कोसने लगे, अन्त में इनको मार पीटकर गाँव से बाहर निकाल दिया। दोनों तपस्वी इनकी इस वृत्ति पर बड़े क्रुद्ध हुए। उन्होंने शाप दिया कि "हे मेघ मूसलाधार बरसाओ और पन्द्रह

दिन तक वर्षा हो जिससे गाँव नष्ट हो जाए"। पन्द्रह दिन तक मेघ बहुत वेग से बरसा, सारा गाँव नष्ट हो गया और बहुत जन, धन का नाश हुआ। ये दोनों तपस्वी उस गाँव से चले गये। क्रोध शान्त होने पर भी उन्होंने पश्चात्ताप नहीं किया इसका परिणाम यह हुआ कि तीन साल बाद मर कर वे सातवें नरक में गये। जिस तपस्या के कारण वे देवलोक में जाते वे क्रोध ही के कारण सातवीं नारकी में गये। इससे यह निष्कर्ष मिलता है कि क्रोध खराब है जो सब पुण्यों का नाश कर देता है।

क्रियावन्त की प्रवृत्ति शुभ योग में होनी चाहिये

यस्यास्ति किंचिन्न तपोयमादि, ब्रूयात्स यत्तत्तुदतां परान् वा।
यस्यास्ति कष्टाप्तमिदं तु किं न, तद्भ्रंशभीः संवृणुते स योगान् ॥२०॥

अर्थ—जिन पुरुषों ने तपस्या, यम, आदि कुछ भी अर्जित नहीं किया यदि वे कुछ भी बोलें या दूसरों को दुख पहुँचावें तो चिन्ता की कुछ बात नहीं, पर जिन पुरुषों ने महा कष्ट उठाकर तपस्यादि की है वे उसके भ्रष्ट हो जाने के डर से योग संवर क्यों नहीं करते? ॥२०॥

भावार्थः—जिसने अनन्त काल से मिथ्यात्व सेवन किया हो वह मनुष्य जो मन में आवे बोले अथवा मन, वचन, काया से अशुभ योगों की प्रवृत्ति करे, किसी को दुख दे या कष्ट पहुँचावे अथवा कैसा ही आचरण करे तो कोई चिन्ता नहीं, क्योंकि उसे भविष्य सुधारने की चिन्ता नहीं। परन्तु जो महापच्चक्खाण करता है अथवा उसी प्रकार की कठिन तपस्या अथवा असाधारण प्रयास से विरति धारण करता है, ऐसे मुनियों को तो योगों का संवर करना ही चाहिये। उनको चाहे जितना भी पौद्गलिक भोग देना पड़े तब भी उनको अपनी सब शक्ति लगाकर भोग देना चाहिये। ग्रन्थ कर्त्ता कहते हैं कि यदि इस प्रकार घोर तपस्या करते हुए भी उसके नाश होने का भय नहीं करते हो और योग, संयम आदि क्रियाओं की महत्ता जानते हुए भी योग संयम नहीं रखते तो उनका बड़ी कठिनता से प्राप्त हुआ विरति गुण नष्ट हो जायगा और सब श्रम वृथा जायगा।

मनयोग के संवर की मुख्यता

सर्वेत्समग्रेष्वपि संवरेषु, परं निदानं शिवसंपदां यः ।
त्यजन् कषायादिजदुर्विकल्पान्, कुर्यान्मनः संवरमिद्धधीस्तम् ॥२१॥

अर्थः—मोक्ष लक्ष्मी प्राप्त करने का कारण संवर है। सब संवरों में बड़ा संवर मन का संवर करना है। यह जानकर बुद्धिमान् आदमी कषाय से उत्पन्न हुए दुर्विकल्पों को त्यागकर संवर करे ॥२१॥

भावार्थः—सब प्रवृत्तियों का हेतु सुख प्राप्त करना है, और मोक्ष सुख सब सुखों में महान् है क्योंकि वह अनन्त है। यह सुख मन पर पूर्ण संयम करने से प्राप्त होता है। यह तो अनुभव सिद्ध बात है कि यदि कषाय से उत्पन्न संकल्प विकल्पों को त्याग दिया जाय तो मन में शान्ति, प्रेम तथा मैत्री भाव जागृत होता है, जिससे अत्यधिक आनन्द का अनुभव होता है। यह सुख चक्रवर्ती राजा के सुख से भी अधिक है। इसलिये मन को वश में करो, कुविचार और दुर्ध्यान को रोको और शुभ विचार की तरफ प्रवृत्ति करो। इससे कर्म की निर्जरा होगी और नीचे श्लोक में वर्णित सुख की प्राप्ति होगी या उसे प्राप्त करने का मार्ग खुल जायगा।

निःसंगता और संवर—उपसंहार

तदेवमात्मा कृतसंवरः स्यात् निःसंगताभाक् सततं सुखेन ।
निःसंगभावादथ संवरस्तद्द्वयं शिवार्थी युगपद्भजेत ॥२२॥

अर्थः—उल्लिखित वर्णन के अनुसार संवर करने वाली ऐसी आत्मा को बिना मेहनत के निःसंगता (ममतारहितपना) प्राप्त होती है, और निःसंगता भाव से संवर सिद्ध होता है। इस प्रकार मोक्ष का अभिलाषी जीव इन दोनों उपायों से मोक्ष साधन करता है ॥२२॥

भावार्थः—जिसने मिथ्यात्व का त्याग किया हो, अविरति दूर करी हो, कषायों को कम किया हो और योगों को रोका हो तो उसका ममत्व भाव स्वाभाविक रीति से कम हो जाता है। ममत्व भाव घटने से संसार कम हो जाता है और संसारी वासना कम हो जाती है। वासना कम होने से

विषय कम होते हैं, ममता का भी नाश हो जाता है, ममता का नाश हुआ तो मोह का नाश हुआ। मोह गया तो भव-भ्रमण का अन्त हुआ अर्थात् अनन्त मोक्ष सुख प्राप्त हुआ। इस प्रकार संवर से निःसंगता प्राप्त होती है। कुछ मनुष्यों को निःसंगता से संवर प्राप्त होता है। अर्थात् पहले उन्हें किसी कारण से वैराग्य होता है, मोह हटता है और स्त्री-पुत्र आदि से प्रेम हट जाता है। उसके पश्चात् आत्म-जागृति होती है, मन, वचन और काया के योग की प्रशस्त प्रवृत्ति होती है और कषाय कमजोर हो जाते हैं। इस प्रकार निःसंगता से संवर होता है। यह कोई नियम नहीं कि संवर या निःसंगता से संवर हो। इसका आधार तो पुरुष, काल, स्थान तथा संयोग है, फिर भी सबसे अच्छा मार्ग तो योगादि का संवर और ममता का त्याग, इन दोनों का साथ-साथ उपयोग करना है।

उपसंहार

कर्म-बन्ध का हेतु मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग है। ग्रन्थ-कर्त्ता ने इस अध्याय में इन चारों में से मिथ्यात्व का ज्यादा विवेचन इसलिये नहीं किया है कि इसको पढ़ने वाले प्रायः मिथ्यात्वी नहीं होंगे। और योग का विषय जिसमें मनोनिग्रह, वचन-निग्रह, और काय-निग्रह तथा अन्तरंग में इन्द्रिय-दमन बहुत उपयोगी है। यह बात अच्छी तरह जान लेनी चाहिये कि मन की अप्रवृत्ति और मनोनिग्रह में बहुत अन्तर है। मन की अप्रवृत्ति अर्थात् मन के व्यापार को बन्द करना मन को नाश करना है, यह हठ योग है। इससे कोई विशेष लाभ नहीं होता, तन्दुरुस्ती में लाभ हो सकता है परन्तु कोई आत्मिक लाभ नहीं। वास्तव में सही रास्ता तो यह है कि जब मन बुरे मार्ग पर जाता हो तो उसे रोके और पीछे लौटाकर शुभ मार्ग में प्रवृत्त करे। मन की प्रवृत्ति को अशुभ मार्ग में जाने से रोकना और शुभ मार्ग में लगाना यही महा योग है। इसीलिये शुक्ल ध्यान करने का उपदेश दिया है। यह भावना कि "मैं कब बयालीस दोष रहित आहार करूँगा, मैं कब पौद्गलिक भाव का त्याग कर आत्म-तत्त्व में रमण करूँगा" आदि शुभ मनोरथ हैं, और प्रशस्त मनोयोग की गिनती में है, इसी प्रकार वचन-योग और काययोग को भी जानना। वचन और काया की प्रवृत्ति को एकदम नहीं रोकना

चाहिये, बल्कि उनकी प्रवृत्ति शुभ मार्ग में लगानी चाहिये। जब तक बाह्य इन्द्रियों पर अंकुश नहीं होगा तब तक मन का वश में होना बहुत मुश्किल है। उसी प्रकार जब तक मन पर अंकुश नहीं तब तक इन्द्रियों को वश में करना कठिन है। इस प्रकार मन तथा इन्द्रियों का दमन एक दूसरे पर आधारित है। इसलिये इन दोनों पर अंकुश रखने के लिये असाधारण आत्म-बल की आवश्यकता है। यह कार्य मुश्किल नहीं परन्तु अनुभव न होने से कठिन प्रतीत होता है।

जिस प्रकार योग-रुन्धन करने की आवश्यकता है उसी प्रकार कषाय को वश में करने की आवश्यकता है। जितने भी अन्तरंग शत्रु हैं उनमें सब से प्रबल शत्रु कषाय है। जब योग-रुन्धन हो जावे और साथ ही कषाय पर विजय प्राप्त हो जावे तो विरति गुण स्वयं ही प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार चारों कर्म-बन्ध-हेतु जब कमजोर हो जाते हैं तो वे धीरे-धीरे नष्ट हो जाते हैं।

इस जन्म में स्त्री, पुत्र, धन आदि वस्तुएँ प्राप्त होना मुश्किल नहीं। जीव ने इनको अनन्त बार प्राप्त किया है। अतएव इनके लिये प्रयास करना वृथा है क्योंकि इनके ममत्व में पड़कर यह जीव अपना कर्त्तव्य भूल जाता है। इसलिये योग-रुन्धन, कषाय-विजय और मिथ्यात्व-निरोध करने के लिये प्रयत्न करना चाहिये।

पंचदश अधिकार

शुभ वृत्ति शिक्षोपदेश

चित्त-दमन, वैराग्योपदेश, यति-योग्य शिक्षा तथा मिथ्यात्व और अविराग और योगों का निरोध आदि विषयों पर व्याख्या की गयी। ये सब बहुत उपयोगी हैं, परन्तु मनुष्य को कैसी वृत्ति रखनी चाहिये जिससे उपरोक्त क्रियायें पूर्णरूप से फलदायक हों इस पर विचार किया जाता है।

आवश्यक क्रिया करना

आवश्यकेष्वातनु यत्नमाप्तोदितेषु शुद्धेषु तमोऽपहेषु।
न ह्यन्यथाभुक्तं हि न चाप्यशुद्धं वैद्योक्तमप्यौषधमामयान् यत् ॥१॥

अर्थ:—पाप को हरने वाली आवश्यक और ज्ञानी पुरुषों की बताई हुई शुद्ध क्रियाओं के करने में तू यत्न कर। क्योंकि यदि वैद्य की बताई हुई औषध खाने में न आवे अथवा वह अशुद्ध हो तो रोग का नाश नहीं हो सकता ॥१॥

बाबत क्षमा-याचना करना प्रतिक्रमण है। ५. कायोत्सर्ग—देह का उत्सर्ग करना अर्थात् देह-सम्बन्धी सब बाह्य हलचल बंद कर अन्तर आत्म-जागृति करना और ६. पच्चक्खाण-स्थूल पदार्थों का भोग कम करना या सर्वथा त्याग करना और शक्ति के अनुसार त्याग भाव रखना।

ये छै आवश्यक क्रियाएँ जैन लोगों को अवश्य करनी चाहियें। ऐसा शास्त्र का विधान है, भगवान् का स्वयं कथन है। यह खुद भी निर्दोष है और भवरोग का नाश करने वाला भी है। ये आवश्यक क्रियाएँ बहुत जरूरी हैं, इनसे आत्मा निर्मल होती है। पुराने पापों का नाश होता है, नये कर्म बन्धन रुकते हैं और आत्मा जागृत रहती है।

तपस्या करनी चाहिये

तपांसि तन्याद्द्विविधानि नित्यं, मुखे कटून्यायतिसुन्दराणि ।
निघ्नन्ति तान्येव कुकर्मराशिं रसायनानीव दुरामयान् यत् ॥२॥

अर्थ :—प्रारम्भ में कठिन लगे व परिणाम में सुन्दर हो ऐसे दोनों प्रकार के तप हमेशा करने चाहियें। इससे कुकर्मों के ढेर का तुरन्त नाश हो जाता है। जैसा कि रसायन खाने से दुष्ट रोग का नाश होता है उसी प्रकार तप करने से कर्मों का नाश होता है ॥२॥

भावार्थ:—तप दो प्रकार के होते हैं बाह्य और आभ्यन्तर। बाह्यतप छै प्रकार के हैं—नहीं खाना (उपवास), कम खाना, गिनती में कम पदार्थ खाना, रस का त्याग, कष्ट सहन करना, अंगोपांग को समेट कर रखना। आभ्यन्तर तप भी छै प्रकार का है—किये हुए पापों का प्रायश्चित्त करना, बड़ों के प्रति विनय करना, बाल वृद्ध की सेवा करना, अभ्यास करना, ध्यान करना और कायोत्सर्ग करना। इन सब तपों के करने से कष्ट होता है परन्तु अनादि काल से लगे हुए पापों और कर्मों का नाश होता है। यदि अनादिकाल के लगे चीकणे कर्मों का नाश करना हो तो तपस्या करो। इस जीव के जो आठ कर्म अनादि से बंधे हैं वे उदित होने से पहिले भी

तपस्या करके चीण किये जा सकते हैं। उनके उदय के लिये ठहरने की आवश्यकता नहीं। तपस्या यद्यपि आरम्भ में कठिन लगती है तथापि अभ्यास से सरल हो जाती है। इसका फल यह होता है कि कठिन तथा चीकणे कर्मों का नाश तुरन्त हो जाता है।

शीलांग-योग, उपसर्ग-समिति-गुप्ति

विशुद्धशीलांगसहस्रधारी, भवानिशं निर्मितयोगसिद्धिः ।
सहोपसर्गांस्तनुनिर्ममः सन्, भजस्व गुप्तीः समितीश्च सम्यक् ॥३॥

अर्थः—तू अट्ठारह हजार शीलांग को धारण करने वाला बन, योग सिद्धि वाला बन, शरीर की ममता त्याग, उपसर्गों को सहन कर, और समिति तथा गुप्ति का अच्छी तरह पालन कर ॥३॥

भावार्थः—इस श्लोक में वर्णित सभी विषयों पर इस पुस्तक में सविस्तार व्याख्या हो चुकी है।

स्वाध्याय-आगमार्थ भिक्षा आदि

स्वाध्याययोगेषु दधस्व यत्नं, मध्यस्थवृत्यानुसरागमार्थान् ।
अगौरवो भैक्षमताविषादी, हेतौ, विशुद्धे वशितेन्द्रियौघः ॥४॥

अर्थः—सज्झाय ध्यान में यत्न कर, मध्यस्थ बुद्धि से आगम में कहे मार्ग के अनुसार कार्य कर, अहंकार का त्याग कर, भिक्षा के लिये जा, उसी प्रकार इन्द्रियों को वश में करके शुद्ध हेतु से कटुता रहित हो ॥४॥

भावार्थः—ऊपर श्लोक में बताये हुए कार्य संक्षेप में इस प्रकार हैं जो मुनियों के लिये आवश्यक हैं।

(१) हे यति ! तू स्वाध्याय में लीन रह, इससे तू निकम्मी पंचायत से बचेगा और सावद्य उपदेश और सावद्य ध्यान से रक्षा होगी। इससे तेरा उत्तरोत्तर ज्ञान बढ़ेगा, परोपकार करने का प्रबल साधन मिलेगा। योग-साधन तथा आगम-ज्ञान प्राप्त करने की योग्यता आवेगी, इससे तू मन, वचन तथा काया के योगों पर अंकुश रख सकेगा।

(२) आगम में बताए हुए भावों को माध्यस्थ बुद्धि से ग्रहण कर, कदाग्रह छोड़ और शुद्ध दृष्टिबिंदु सामने रख। (३) तू नृपादि के सत्कार की या उनसे रमणीय वस्तुओं की प्राप्ति की इच्छा न कर और उनके प्राप्त होने पर अहंकार भी न कर। (४) अपने मन में विषाद मत कर। विषाद से आत्मा को हानि पहुँचती है और संसार-वृद्धि होती है। (५) इन्द्रियों को वश में रख, नहीं तो बहुत दुःख पायेगा और उन्हें वश में रखने से अवर्णनीय आनन्द मिलेगा। (६) तू शुद्ध साधु जीवन के लिये भिक्षा द्वारा भोजन प्राप्त कर, परन्तु तेरा बोझ किसी गृहस्थी पर न पड़े इसका खयाल रख। थोड़ा थोड़ा अनेक गृहस्थियों से अन्न प्राप्त कर। शुद्ध आहार ले और जो मिले उसमें संतोष रख। जो आहार प्राप्त होता है वह साधु-संयम में सहायक होता है न कि शरीर का पोषक। शुद्ध भोजन को शरीर के सदृश समझ।

उपदेश-विहार

ददस्व धर्मार्थितयैव धर्म्यान्, सदोपदेशान् स्वपरादिसाम्यान्।
जगद्धितैषी नवभिश्च कल्पैर्ग्रामे कुले वा विहराप्रमत्तः ॥५॥

अर्थः हे मुनि! तू धर्म प्राप्त करने के लिये इस प्रकार का उपदेश दे जो धर्मानुसार हो और अपने तथा पराये में समभाव उत्पन्न करे। तू जगत् का भला करने की इच्छा करता हुआ प्रमाद रहित हो और गाँव तथा कुल में नव-कल्पी विहार कर ॥५॥

विवेचन :—हे साधु! उपदेश देना तो तुम्हारा धर्म है। लेकिन तुम्हारे उपदेश में तीन गुण होने चाहियें (१) उपदेश निष्पाप अर्थात् सावद्य आचरण की आज्ञा रहित होना चाहिये (२) उपदेश केवल धर्म प्राप्ति के लिये तथा स्वार्थ-रहित होना चाहिये। परमार्थ ही उसका प्रयोजन होना चाहिये (३) उपदेश अपनी और दूसरे की आत्मिक तथा पौद्गलिक वस्तुओं पर समभाव उत्पन्न करने वाला होना चाहिये न कि उत्तेजना पैदा करने वाला या स्वयं की बड़ाई बताने वाला हो। वह पत्थर और माणिक्य को एक समान समझे, सुन्दर वस्तु पर प्रेम तथा असुन्दर वस्तुओं पर घृणा न करे। वह सिर्फ समभाव रखे। यह उपदेश

राग-द्वेष रहित हो, उसकी भाषा मधुर हो और भाव श्रोताओं का हितकारी हो, सत्य हो, जिस बात को समझाने के लिए दलील दी जावे वह न्याययुक्त होनी चाहिये। उसमें कदाग्रह बिलकुल नहीं होना चाहिये। श्रोताओं पर व्याख्यान का ऐसा असर होना चाहिये कि वे सब संसारी बातों को भूल जावें।

साधु नवकल्पी विहार करे। इसका अर्थ है कि कार्तिक पूर्णिमा से लेकर आषाढ़ सुदि चौदश तक आठ मास के आठ विहार तथा चतुर्मास में चार महीनों का एक विहार इस प्रकार नौ विहार हुए। इस प्रकार नवकल्पी विहार करे। इसमें वह प्रमाद न करे। उसे जगत् के हित का सदा ध्यान रखना चाहिये। वह सिवाय चतुर्मास के एक स्थान पर न ठहरे। सिर्फ अभ्यास के लिये, वृद्धावस्था के कारण या शासन के अपूर्व लाभ के निमित्त एक स्थान पर रहने में हानि नहीं। अन्यथा एक स्थान पर रहने में अनेक हानियाँ होती हैं। श्रावक तथा स्थान से मोह हो जाना सबसे बड़ी हानि है। ये मेरे श्रावक हैं, मेरे भक्त हैं, ऐसी भावना होना साधुपने को दूषित करती है और धीरे धीरे अनेक प्रकार की क्रिया शिथिलता आ जाती है।

स्वात्मनिरीक्षण परिणाम

कृताकृतं स्वस्य तपोजपादि, शक्तीरशक्तीः सुकृतेतरे च ।
सदा समीक्षस्व हृदाथ साध्ये, यतस्व हेयं त्यज चाव्ययार्थी ॥६॥

अर्थः—तूने जप तप किया है कि नहीं, अच्छे काम या बुरे कामों के करने में कितनी शक्ति अथवा अशक्ति है इसके विषय में तू सदा हृदय में विचार कर। तू मोक्ष-प्राप्ति की इच्छा वाला है, इसलिये मोक्ष प्राप्त करने वाले कार्य करने का उपाय कर और त्याग करने योग्य कार्यों का त्याग ॥ ॥

भावार्थ:—आत्म-विचारणा से बहुत लाभ है। स्वयं क्या कार्य करता है और उनमें कौनसा कार्य करने योग्य है और कौनसा त्यागने योग्य इस प्रकार का विचार आता है। इस प्रकार भविष्य में किस तरह कार्य करना (Line of action) इसका ज्ञान होता है और शुद्ध आचार विचार करने का निमित्त प्राप्त होता है।

आत्म विचारणा में गृहस्थ यह सोचे कि उसने अपनी शक्ति के अनुसार तप, जप, स्वामिवात्सल्य तथा अन्य धार्मिक क्रियाएँ कीं या नहीं और कौन २ सी क्रिया करने की उसमें सामर्थ्य है। इसी प्रकार साधु सोचे कि उसने कितने पुरुषों को सत्य उपदेश दिया, स्वयं कितना पठन पाठन किया, कब किया और शासनोन्नति का क्या कार्य किया। यदि नहीं किया तो वह क्यों नहीं कर सका इस पर विचार करे। सुकृत्य अथवा दुष्कृत्य में उसका मन कहाँ तक कार्य करता है और उसे किस हद तक ठीक ठिकाने ला सकता है, इन सब बातों पर विचार कर अपकृत्यों से बच कर सुकृत्य में लगे। इस प्रकार विचार करने से जीव अनेक पापों से बचता है और अच्छे कामों में लगता है। इस प्रकार विचार करने के लिए शास्त्रकारों ने चौदह नियम बनाए हैं। उनका श्रावक नित्य प्रति सायंकाल को ध्यान करता है। ये नियम स्थूल पदार्थों पर अंकुश रखने में सहायक हैं और आत्म-जागृति में तो बहुत सहायक हैं। ये साधु तथा श्रावक दोनों के लिये बहुत उपयोगी हैं।

परपीड़ा वर्जन–योग निर्मलता

परस्य पीडापरिवर्जनात्ते, त्रिधा त्रियोग्यप्यमला सदास्तु।
साम्यैकलीनं गतदुर्विकल्पं, मनो वचश्चाप्यनघप्रवृत्ति ॥७॥

अर्थः—दूसरे जीवों को तीनों प्रकार से दुःख नहीं देने से तेरे मन, वचन, काया की त्रिपुटी निर्मल होती है। मन समता में लीन हो जाता है और अपने दुर्विकल्पों को नष्ट कर देता है। उसके वचन भी निरवद्य कार्य में लगे रहते हैं॥७॥

भावार्थः—जैन सिद्धान्त मन, वचन और काया से तीनों हिंसा नहीं करना इस सिद्धान्त पर स्थिर है। जैन धर्म में किसी भी प्राणी को सताना, दूसरे के द्वारा दुःख पहुँचाना, अनुमोदन करना या किये हुए पाप की पुष्टि करना वर्जित है। इस प्रकार की वर्जना से मन, वचन और काया निर्मल होती है।

हिंसा के सम्बन्ध में इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद मत्सर आदि करना भी हिंसा है। क्योंकि इससे

आत्म-गुण का नाश होता है। बाह्य हिंसा और अन्तरंग हिंसा दोनों प्रकार की हिंसा रोकने से समता और क्षमा गुण की प्राप्ति होती है। समता बिना किया कार्य हानिकारक होता है। जिस समय समता गुण प्राप्त होता है तो मन एक प्रकार के अकथनीय आनन्द का अनुभव करता है। दूसरे मनुष्य का मन दुखाना, उसके विषय में अहित सोचना यह भी हिंसा है, इस प्रवृत्ति को रोकना ही मनोयोग है।

भावना-आत्मलय

मैत्रीं प्रमोदं करुणां च सम्यक्, मध्यस्थतां चानय साम्यमात्मन् ।
सद्भावनास्वात्मलयं प्रयत्नात्, कृताविरामं रमयस्व चेतः ॥८॥

अर्थः—हे आत्मा! मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ्य भावनाओं को अच्छी तरह भा, और समता भाव प्रगट कर। प्रयत्न से सद्-भावना भा कर आत्मलय में बिना अन्यत्र विश्राम लिये मन को शान्ति प्राप्त करा ॥८॥

भावार्थ :—(१) मैत्री भाव, प्रमोद भाव, करुणा भाव और माध्यस्थ्य भाव इन चारों भावों को अपने हृदय में निरन्तर रमाओ ये परम उपयोगी हैं। इनकी विचारणा करने से परम साध्य पदार्थ (समता) की प्राप्ति होती है और परम शान्ति प्राप्त होती है। इसका स्वरूप प्रथम अधिकार में बताया है। ये भावनाएँ शुभ वृत्ति का मुख्य अंग हैं।

(२) इन भावनाओं के भाने से शुद्ध समता प्राप्त होती है। समता आत्मिक गुण है। ज्ञान, ध्यान, तप और शीलयुक्त मुनि भी उतना लाभ नहीं प्राप्त कर सकता जितना समता प्राप्त मुनि प्राप्त कर सकता है।

(३) शुभ वृत्ति करते करते जब समता प्राप्त हो जाती है तो आत्म-जागृति होती है और उसे सब सांसारिक सुख तुच्छ लगने लगते हैं। मन आत्मपरिणति युक्त हो जाता है और सब दिशाएँ प्रफुल्लित नजर आती हैं। अन्त में अकथनीय आत्मानन्द अनुभव होता है। इसलिये निरन्तर आत्म-रमण कर।

आत्म विचारणा में गृहस्थ यह सोचे कि उसने अपनी शक्ति के अनुसार तप, जप, स्वामिवात्सल्य तथा अन्य धार्मिक क्रियाएँ कीं या नहीं और कौन २ सी क्रिया करने की उसमें सामर्थ्य है। इसी प्रकार साधु सोचे कि उसने कितने पुरुषों को सत्य उपदेश दिया, स्वयं कितना पठन पाठन किया, कब किया और शासनोन्नति का क्या कार्य किया। यदि नहीं किया तो वह क्यों नहीं कर सका इस पर विचार करे। सुकृत्य अथवा दुष्कृत्य में उसका मन कहाँ तक कार्य करता है और उसे किस हद तक ठीक ठिकाने ला सकता है, इन सब बातों पर विचार कर अपकृत्यों से बच कर सुकृत्य में लगे। इस प्रकार विचार करने से जीव अनेक पापों से बचता है और अच्छे कामों में लगता है। इस प्रकार विचार करने के लिए शास्त्रकारों ने चौदह नियम बनाए हैं। उनका श्रावक नित्य प्रति सायंकाल को ध्यान करता है। ये नियम स्थूल पदार्थों पर अंकुश रखने में सहायक हैं और आत्म-जागृति में तो बहुत सहायक हैं। ये साधु तथा श्रावक दोनों के लिये बहुत उपयोगी हैं।

परपीड़ा वर्जन-योग निर्मलता

परस्य पीडापरिवर्जनात्ते, त्रिधा त्रियोग्यप्यमला सदास्तु।
साम्यैकलीनं गतदुर्विकल्पं, मनो वचश्चाप्यनघप्रवृत्ति ॥७॥

अर्थः—दूसरे जीवों को तीनों प्रकार से दुःख नहीं देने से तेरे मन, वचन, काया की त्रिपुटी निर्मल होती है। मन समता में लीन हो जाता है और अपने दुर्विकल्पों को नष्ट कर देता है। उसके वचन भी निरवद्य कार्य में लगे रहते हैं॥७॥

भावार्थः—जैन सिद्धान्त मन, वचन और काया से तीनों हिंसा नहीं करना इस सिद्धान्त पर स्थिर है। जैन धर्म में किसी भी प्राणी को सताना, दूसरे के द्वारा दुःख पहुँचाना, अनुमोदन करना या किये हुए पाप की पुष्टि करना वर्जित है। इस प्रकार की वर्जना से मन, वचन और काया निर्मल होती है।

हिंसा के सम्बन्ध में इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद मत्सर आदि करना भी हिंसा है। क्योंकि इससे

आत्म-गुण का नाश होता है। बाह्य हिंसा और अन्तरंग हिंसा दोनों प्रकार की हिंसा रोकने से समता और क्षमा गुण की प्राप्ति होती है। समता विना किया कार्य हानिकारक होता है। जिस समय समता गुण प्राप्त होता है तो मन एक प्रकार के अकथनीय आनन्द का अनुभव करता है। दूसरे मनुष्य का मन दुखाना, उसके विषय में अहित सोचना यह भी हिंसा है, इस प्रवृत्ति को रोकना ही मनोयोग है।

भावना-आत्मलय

मैत्रीं प्रमोदं करुणां च सम्यक्, मध्यस्थतां चानय साम्यमात्मन्।
सद्भावनास्वात्मलयं प्रयत्नात्, कृताविरामं रमयस्व चेतः ॥८॥

अर्थ:—हे आत्मा! मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ्य भावनाओं को अच्छी तरह भा, और समता भाव प्रगट कर। प्रयत्न से सद्-भावना भा कर आत्मलय में विना अन्यत्र विश्राम लिये मन को शान्ति प्राप्त करा॥८॥

भावार्थ:—(१) मैत्री भाव, प्रमोद भाव, करुणा भाव और माध्यस्थ्य भाव इन चारों भावों को अपने हृदय में निरन्तर रमाओ ये परम उपयोगी हैं। इनकी विचारणा करने से परम साध्य पदार्थ (समता) की प्राप्ति होती है और परम शान्ति प्राप्त होती है। इसका स्वरूप प्रथम अधिकार में बताया है। ये भावनाएँ शुभ वृत्ति का मुख्य अंग हैं।

(२) इन भावनाओं के भाने से शुद्ध समता प्राप्त होती है। समता आत्मिक गुण है। ज्ञान, ध्यान, तप और शीलयुक्त मुनि भी उतना लाभ नहीं प्राप्त कर सकता जितना समता प्राप्त मुनि प्राप्त कर सकता है।

(३) शुभ वृत्ति करते करते जब समता प्राप्त हो जाती है तो आत्म-जागृति होती है और उसे सब सांसारिक सुख तुच्छ लगने लगते हैं। मन आत्मपरिणति युक्त हो जाता है और सब दिशाएँ प्रफुल्लित नजर आती हैं। अन्त में अकथनीय आत्मानन्द अनुभव होता है। इसलिये निरन्तर आत्म-रमण कर।

कुर्यान्न कुत्रापि ममत्वभावं, न च प्रभो रत्यरती कषायान् ।
इहापि सौख्यं लभसेऽप्यनीहो, ह्यनुत्तरामर्त्यसुखाभमात्मन् ॥६॥

अर्थः—हे समर्थ आत्मा ! किसी भी वस्तु पर तू न ममत्व भाव कर न रति, अरति और कषाय भी कर। जब तू इच्छा रहित होगा तब तुझे अनुत्तर विमान में रहने वाले देवताओं का सा सुख यहीं मिल जायगा ॥९॥

भावार्थः—शुभ वृत्ति साधन के लिये अपनी वास्तविकता जानना जरूरी है इसलिये हे चेतन ! यह बात अच्छी तरह समझ कि (१) तेरा इस संसार में कुछ नहीं है। पुत्र, स्त्री अथवा धन तेरा नहीं । इन्हें तू अपना मानकर वृथा ममता में फंसकर दुखी होता है। इससे तू परभव में भी दुखी होगा। तू ममता के कारण सत्य असत्य में भेद नहीं कर सकता। इसलिये ममत्व भाव छोड़। (२-३) तुझे सुन्दर वस्तु देखकर न प्रसन्न होना चाहिये और न अप्रिय वस्तु देखकर क्रोधित होना चाहिये। संसार में कोई वस्तु अच्छी अथवा खराब नहीं, अच्छा बुरा समझना यह सब तेरे मन की ममता मात्र है। इन्हीं मान्यताओं के कारण तू सुख दुःख का अनुभव करता है इसलिये रति और अरति के ख्याल का त्याग कर। इससे तुझे अपूर्व आनन्द होगा। (४) कषाय तो संसार-भ्रमण कराने वाला है इसे छोड़ देना चाहिये यह सातवें अधिकार में बताया गया है। ये मोह राजा के सुभट हैं यदि इनको जीतोगे तो सुख होगा मोह और कषाय ही दुःख का कारण है, इनका त्याग निःस्पृहता है। निःस्पृहता में ही मोटे से मोटा सुख है। उपाध्यायजी महाराज फरमाते हैं:—

परस्पृहा महादुःखं निःस्पृहत्वं महासुखम्।
एतदुक्तं समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ॥

अतएव निःस्पृहता में महान् सुख है। अनुत्तर विमान के देवों में निःस्पृहता है उन्हें काम विकार और मानसिक विडम्बना नहीं होती।

अतः सब देवों से अधिक सुखी है, क्योंकि निःस्पृह जीव पर दुःख का कोई असर नहीं होता।

उपसंहार—शुद्ध प्रवृत्ति करने वाले की गति

इति यतिवरशिक्षां योऽवधार्य व्रतस्थ-
श्चरणकरणयोगानेकचित्तः श्रयेत।
सपदि भवमहाब्धिं क्लेशराशिं स तीर्त्वा,
विलसति शिवसौख्यानन्त्यसायुज्यमाप्य ॥१०॥

षोडश अधिकार
साम्यसर्वस्व

इस सारे ग्रन्थ का सार साम्य सर्वस्व अर्थात् समता प्राप्ति करना है। समता में मनोनिग्रह, ममत्व-त्याग और शुभवृत्ति का समावेश हो जाता है। अब यहाँ समता का दिग्दर्शन कराते हैं।

समता का फल मोक्ष प्राप्ति

एवं सदाभ्यासवशेन सात्म्यं, नयस्व साम्यं परमार्थवेदिन् ।
यतः करस्थाः शिवसम्पदस्ते, भवन्ति सद्यो भवभीतिभेत्तुः ॥१॥

इम शुद्ध अभ्यासें निज चित्त, रहि परमारथमां समचित्त;
शिव संपद जिम तुझ कर थका, हुवई तरत भावी शिवसका ।

अर्थः—हे तात्विक पदार्थ के जानकार ! इस प्रकार (ऊपर पन्द्रहवें अधिकार में बताई रीति के अनुसार) निरन्तर अभ्यास के योग से समता को आत्मा के साथ जोड़ दे। जिससे इस भव के भय का अन्त करने वाली मोक्ष-सम्पत्ति एकदम हाथ में आ जायगी ॥१॥

भावार्थः—कुछ ममत्वभाव छोड़कर, कुछ कषाय छोड़कर, कुछ योग की निर्मलता प्राप्त कर और कुछ स्वात्मलय से, शुभ वृत्ति प्राप्त करना ये सब पन्द्रहवें अधिकार में बताया है। इन सब उच्च प्रवृत्तियों का उद्देश्य समता की प्राप्ति करना है। समता-प्राप्ति का लाभ इस प्रकार है "प्रणिहन्ति क्षणार्धेन साम्यमालम्ब्य कर्म तत्। यन्न हन्यान्नरस्तीव्रतपसाजन्मकोटिभिः (हेमचन्द्राचार्य—योगशास्त्र) मतलब यह है—जो कर्म करोड़ों जन्म तक तीव्र तपस्या करने पर भी नहीं छुट सकते, वे समता के अवलम्बन से एक क्षण में नष्ट हो जाते हैं। इसलिये तुम्हारा साध्य समता होना चाहिये और उसकी आत्मा के साथ मेल करने के लिये निरंतर अभ्यास की जरूरत है। प्रत्येक प्रकृति का अर्थ है सुख की प्राप्ति और दुःख का अन्त। समता से जो सुख प्राप्त होता है वह अवर्णनीय है, कारण जितने भी दूसरे सांसारिक सुख हैं उन सबके अन्त में दुःख है। समता-

प्राप्ति में सुख ही सुख और अन्त में अनंत सुखप्रद मोक्ष प्राप्ति होती है। इस मोक्ष रूपी मन्दिर में चढ़ने के लिये चौदह सीढ़ियां हैं। इन पर चढ़ने से ही मोक्ष मन्दिर में प्रवेश कर सकते हैं। हे भाइयो! एक बार अपने आप में निरूपाधि, निजस्वरूपता में लीन होना, अजरामरत्व और इस संसारी दौड़ा-दौड़ी का अन्त और अखंड शान्ति का विचार करो। यदि यह साधना रुचिकर लगे तो इस ग्रंथ में वर्णित समता पर ध्यान धरो—दृढ़ प्रयत्न, दृढ़ निश्चय और लगातार लग कर प्रयास करने से इच्छित परिणाम प्राप्त होगा अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होगी। इसलिये इस मनुष्य-जन्म का जो सुयोग प्राप्त हुआ है उसे मत गमाओ, क्योंकि यह जन्म बार बार नहीं मिलेगा।

अविद्या का त्याग समता का बीज है

त्वमेव दुःखं नरकस्त्वमेव, त्वमेव शर्मापि शिवं त्वमेव।
त्वमेव कर्माणि मनस्त्वमेव, जहीह्यविद्यामवधेहि चात्मन् ॥२॥

तुहीज दुःख तुहीज नरकमा, तुहीज सुख तुहीज शिवगमां।
तुहीज कर्म तुहीज मनपणे, तज अवज्ञा आतम इम भणे॥

अर्थ:—हे आत्मन्! तू ही दुःख है, कारण दुःख की प्राप्ति तेरे कर्माधीन हुई है। इसी प्रकार क्या नरक, क्या स्वर्ग सुख, क्या मोक्ष ये सब तेरी ही मनोवृत्ति पर आधारित है, इसलिये सब कुछ तू ही है। तू इस दुर्मनोवृत्ति का त्याग कर फिर सावधान होजा।

भावार्थ:—जैनशास्त्रानुसार आत्मा पर ही सब कुछ निर्भर है। उसे न कोई मदद दे सकता है और न उसे किसी की मदद की इच्छा ही रहती है। वह असली स्थिति में शुद्ध, अक्षय, अविनाशी, नित्य है, सिर्फ कर्म के सम्बन्ध से उसकी शुद्ध अवस्था पर परदा पड़ गया है। इस परदे को हटाने के लिए प्रबल पुरुषार्थ की जरूरत है। इसलिये उसे असाधारण उद्योग करना पड़ता है। इस आत्मा में अनन्त शक्ति है। चाहे तो वह पहाड़ को उखाड़ फेंक सकता है और वीर परमात्मा के समान ज्ञान तथा ऋद्धि प्राप्त कर सकता है। इसलिये कहा है:—

अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूड सामली।
अप्पा कामदुधा धेणू, अप्पा मे नंदन वनं।

ये सिद्धान्त के वाक्य हैं। ये तुरन्त समझ में आ जाने वाले हैं। इनमें कहा है यह आत्मा ही कामधेनु है और आत्मा ही नन्दन वन है। जिस पुरुष को इससे काम लेना आता है वह सब इच्छित वस्तु प्राप्त कर सकता है। वही आत्मा तुम में, हम में और उनमें विद्यमान है।

ऊपर लिखी बातों को जानने के लिये अविद्या को त्यागना चाहिये। क्योंकि अविद्या के कारण मनुष्य अंधे के समान है, उसका सब जीवन वृथा है। जैसे कहा है:—

अज्ञानं खलु भो कष्टं, क्रोधादिभ्योऽपि तीव्र पापेभ्यः।

अर्थात् क्रोधादि तीव्र पापों की अपेक्षा अज्ञान अधिक दुःख देने वाला है। जब तक इस अज्ञान का नाश नहीं होता तब तक मोक्ष बहुत दूर है। इसलिये जागो और अज्ञान को हटाओ।

सुख दुःख की जड़ समता और ममता:

निःसङ्गतामेहि सदा तदात्मन्नर्थेष्वशेषेष्वपि साम्यभावात्।
अवेहि विद्वन् ममतैव मूलं, शुचां सुखानां समतै चेति ॥२॥

आतम निज आदर निस्संग, सरव अरथमा समता संग।
आतम लखिये समता मूल, शुद्ध सुख ते समता अनुकूल ॥

अर्थ:—हे आत्मन्! सब पदार्थों पर सदा समता भाव लाकर निःसंगपना प्राप्त कर। हे विद्वान्! तू समझ ले कि दुःख का मूल ममता ही है और सुख का मूल समता है।

भावार्थ:—आपने देखा कि सब सुख-दुःख का कारण यह आत्मा ही है। इस आत्मा में समता भाव आ जावे तो निःसंगवृत्ति प्राप्त हो जावे और अपने असली रूप में आकर तेरे-मेरे झगड़े निवृत्त हो जावें। फिर अमुक वस्तु मेरी है, यह घर मेरा है, यह वस्तु मेरी है, ये सब भाव समाप्त हो जावेंगे। इसलिये समता का लक्ष्य रख

उसे प्राप्त कर। समता अर्थात् सब वस्तुओं पर सम भाव रखना—दुश्मन और दोस्त पर एकसा भाव, राजा या रंक, सुख अथवा दुःख में एकसा भाव ही समभाव है। समता भाव रखने वालों पर दुःख का कुछ असर नहीं होता। उसे तो सदा सुख ही सुख है। जहाँ ममता नहीं वहाँ मोह नहीं, जहाँ मोह नहीं ऐसे कर्म में चिकनास नहीं, जहाँ चिकनास नहीं वहाँ कर्म क्षीण होकर नष्ट हो जाते हैं और आत्मा अपने स्वाभाविक रूप में हो जाता है अर्थात् मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

समता की वानगी—फल प्राप्ति

स्त्रीषु धूलिषु निजे च परे वा, सम्पदि प्रसरदापदि चात्मन्।
तत्त्वमेहि समतां ममतामुग्, येन शाश्वतसुखाद्वयमेषि ॥४॥

स्त्रीमां धूलि निजपरमांह, संपद आपद आतम आंह।
तत्वे समता ममता विना, जे चाहे ते सुखिया घना॥

अर्थ :—स्त्रियों के विषय में और धूलि की चर्चा में, अपने और पराये के विषय में, सम्पत्ति या विपत्ति की चर्चा में तू ममता भाव को छोड़ दे। हे आत्मन्! तू समता रख जिससे तुझे शाश्वत सुख प्राप्त हो॥४॥

भावार्थः—हे आत्मन्! जो तुझे मोक्ष सुख प्राप्त करना हो तो समता प्राप्त कर, इससे दुःख से छूटने की शक्ति तुझे प्राप्त होगी। जब तू स्व स्त्री और धूल में, तथा अपने और पराये में समभाव रखेगा तो समझना कि कुछ समभाव आया और संसार कम होने का समय आया—इस समय तो तू ममता भाव में फँसा है। यदि तू सुने कि तेरा पुत्र खड्डे में गिर पड़ा तो तेरा चित्त डावांडोल हो जायगा और भागा भागा अपने पुत्र की तरफ दौड़ेगा। पर आगे जाकर तुझे मालूम हुआ कि वह तो तेरा पुत्र नहीं था बल्कि किसी दूसरे का था तो तुझे "चलो मेरा पुत्र तो राजी खुशी है" यह विचार कर शान्ति और खुशी भी होती है। इन दोनों अवस्थाओं में भेद सिर्फ तेरा-मेरा का ही है, कारण लड़के के चोट आई है पर

अवस्था में आई। पर दुःख एक अवस्था में कम दूसरी में ज्यादा इतने में समझना चाहिये कि समता क्या है? दोनों अवस्थाओं में घबराना नहीं चाहिये। चाहे सेवा भाव में भी क्यों न भाग दौड़ करे। जब इतनी समता आवेगी तो दुःख के लिये जगह कहाँ होगी और आगे जाकर शाश्वत सुख के साथ एकता हो जायगी।

समता के कारण रूप पदार्थों का सेवन का

तमेव सेवस्व गुरुं प्रयत्नादधीष्व शास्त्राण्यपि तानि विद्वन्।
तदेव तत्त्वं परिभावयात्मन्, येभ्यो भवेत्साम्य सुधोपभोगः ॥५॥

यतन तेहिज तुं गुरुसेव, पंडित तेमज शास्त्र सुलेव।
आतम तेहिज तत परिभव, समता सुधा हुवे जे दाव॥

अर्थः—उसी गुरु की प्रयत्न से सेवा कर और उसी शास्त्र का अभ्यास कर और हे आत्मन्! उसी तत्त्व का चिन्तन कर, जिससे तुझे समता रूपी अमृत का स्वाद प्राप्त हो॥५॥

भावार्थः—समता रूपी अमृत प्राप्ति के लिये तू गुरु की भक्ति से सेवा तथा अभ्यास कर। उमास्वातिवाचक महाराज प्रशमरति प्रकरण में कहते हैं—

दृढ़तामुपैति वैराग्यवासना येन येन भावेन।
तस्मिन् तस्मिन् कार्यः, कायमनोवाग्भिरभ्यासः॥

जिन जिन भावों से वैराग्य वासना दृढ़ हो और वैराग्य भाव का पोषण हो, उन उन शास्त्रों का मन, वचन, काया से अभ्यास करो और सांसारिक विषयों में अलिप्त गुरु की सेवा करनी चाहिये। विषय-कषाय से बचने के लिये शास्त्राभ्यास भी करना चाहिये, क्योंकि यह संसार का स्वरूप बता कर समता प्राप्ति कराने में मदद देता है।

ये ग्रन्थ समता रस की बानगी

समग्रसच्छास्त्रमहार्णवेभ्यः, समुद्धृतः साम्यसुधारसोऽयम्।
निपीयतां हे विबुधा लभध्वमिहापि मुक्तेः सुखवर्णिकां यत्॥६॥

सकल शास्त्र जोई उधरी, मेल्यो ऐ समतामृत करी।
पीओ ऐ लाभी पंडितां, ऐ शिवसुख आवे छे किनां ॥

अर्थ :—यह समता रस रूपी अमृत मोटे मोटे सब शास्त्र रूपी समुद्रों में से निकाला हुआ है। हे पंडित जनो! तुम इस रस को पीओ और मोक्ष सुख का नमूना चखो ॥६॥

विवेचनः—समतावान् का स्वरूप क्या है यह श्रीमत् कपूरचन्दजी (चिदानन्दजी) महाराज इस प्रकार बताते हैं।

जे अरि मित्त बरावर जानत, पारस पाषाण ज्यूं होई।
कँचन कीच समान अहे जस, नीच नरेश में भेद न कोई ॥
मान कहा अपमान कहा मन, ऐसोः विचार नहीं तस होई।
राग नहीं अरु रोस नहीं चित्त, धन्य अहे जग में जन सोई ॥१॥

ज्ञानी कहो ज्युं अज्ञानी कहो कोई, ध्यानी कहो मनमानी ज्युं कोई।
जोगी कहो भावे भोगी कहो कोई, जाकु जिस्यो मन आवत होई ॥
दोषी कहो निर्दोषी कहो पिंडपोषी कहो को औगुण जोई।
राग नहीं अरु रोस नहीं, जाकुं धन्य अहे जग में जग सोई ॥२॥

साधु सुसंत महन्त कहो कोई, भावे कहो निरग्रंथ पियारे।
चोर कहो चाहे ढोर कहो कोई, सेव करो कोऊ जान दुल्हारे ॥
विनय करो कोई ऊँचे वेठाव ज्युं, दूरथी देख कहो कोई जारे।
धार सदा समभाव चिदानन्द, लोक कहावत सुनत नारे ॥३॥

समतावान् का लक्षण ऊपर लिखा है। समता के बाबत उपाध्याय जी कहते हैं "उपशम सार छे प्रवचने, सुजस वचन ऐ प्रमाणो। रे" समता ही शास्त्र का सार है।

धार्मिक कार्यों में समता होवे तभी सुख है। मोक्ष में भी समता का ही सुख है। मोक्ष सुख में जो आनन्द है उसका नमूना देखना हो तो समता रख उसका सुख देखो।

कर्ता नाम विषय प्रयोजन

शान्तरसभावनात्मा, मुनिसुन्दरसूरिभिः कृतो ग्रन्थः ।
ब्रह्मस्पृहया ध्येयः स्वपरहितोऽध्यात्मकल्पतरुरेषः ॥७॥

भावन शांत सुधारस भर्यो, श्री मुनि सुन्दरसूरि विरच कार्यो ।
अध्यातमभावे ध्याइयो, परहित कल्पतरु भाइयो ॥

अर्थ :—शान्त रस भावना से भरपूर अध्यात्म ज्ञान का कल्पवृक्ष ग्रन्थ श्री मुनि सुन्दर सूरि ने अपने व पर हित के लिये बनाया, उसका ब्रह्म (ज्ञान और क्रिया) प्राप्त करने की इच्छा से अध्ययन करना चाहिये ॥७॥

भावार्थ :—जनसमूह का उपकार करने के लिये इस ग्रन्थ की रचना श्री सोमसुन्दरसूरि महाराज के शिष्य श्री मुनिसुन्दरसूरि महाराज ने की है। यह ग्रन्थ शान्तरस भावना से भरपूर है इसकी रचना का प्रयोजन है ब्रह्म अर्थात् ज्ञान और क्रिया अर्थात् शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त करने का अभ्यास करना। इस ग्रन्थ को बनाने में गुरु महाराज ने अपने ज्ञान तथा शास्त्र का पूरा उपयोग किया है। इसलिये यह ग्रन्थ अध्यात्म ज्ञान का कल्पवृक्ष है।

उपसंहार

इममिति मतिमानधीत्य चित्ते रमयति यो विरमत्ययं भवाद् द्राक् ।
स च नियतमतो रमेत चास्मिन् सह भववैरिजयश्रिया शिवश्रीः ॥८॥

अर्थ :—जो बुद्धिमान् आदमी इस ग्रन्थ को पढ़कर उसका चित्त में रमण करेगा तो वह थोड़े समय में संसार से विरक्त हो जावेगा और संसार रूपी शत्रु पर जय प्राप्त कर मोक्ष लक्ष्मी भी प्राप्त करेगा ॥८॥

भावार्थ :—जो बुद्धिमान् पुरुष इस ग्रन्थ का अध्ययन और मनन करेगा और उसके अनुसार आचरण करेगा तो उसे इच्छित फल प्राप्त होगा। एक अंग्रेज विद्वान् ने लिखा है कि ५ मिनट पढ़ो फिर १५ मिनट तक उस पर विचार करो तभी तुम पढ़ने का फायदा उठा

सकोगे। इसी तरह यहां पर भी मनन करने की पूरी आवश्यकता है। मनन करने से ही आत्म-जागृति होती है और पढ़ने का मन पर असर होता है। अन्यथा पत्थर पर से पानी के समान सब पढ़ा हुआ उड़ जायगा। मनन करने की आदत से वस्तु-रहस्य समझा जा सकता है। फिर संसार की स्थिति जान कर इस शत्रु पर विजय प्राप्त होगी और अन्त में मोक्ष प्राप्त होगा।

× × ×

इस तरह यह 'साम्य सर्वस्व' नाम का सोलहवाँ अधिकार पूरा हुआ। इसमें बताया है कि समता ही सार है। समता-सुख चक्रवर्ती तथा इन्द्र के सुख से भी कई गुणा ज्यादा है और समता गुण वाले पुरुष के लिये मोक्ष लक्ष्मी सामने खड़ी रहती है। सब जीवों पर समभाव रखना, सब वस्तुओं पर समभाव रखना, पौद्‌गलिक वस्तु पर राग-द्वेष नहीं करना, राग-द्वेष भी पौद्‌गलिक है ऐसा समझना, दोष वाले प्राणी पर भी दया करना, गुणवान् के प्रति अन्तःकरण में प्रमोद भाव रखना और स्वयं में उन गुणों को प्राप्त करने की इच्छा रखना, ये ही इस जीवन के मुख्य प्रयोजन हैं और मानव-जीवन प्राप्ति का परम ध्येय है। (यही योगवाई का सदुपयोग है)। इसके बिना यह जीवन फिजूल है और थोड़े से जीवन में अनेक प्रकार का तूफान (उधम) करना; सब दुनियां को हिला डालना या अनुचित आचरण करना और पाप से भारी होना यही वास्तविक अज्ञान या मूर्खता है। इस आत्मा में अनन्त शक्ति अगर उस शुभवृत्ति को धारण करे तो उसके लिये मोक्ष कुछ दूर नहीं है। 'ममता सब दुःखों की और समता सब सुखों की जड़ है।' इस बात को खूब अच्छी तरह समझ लेना चाहिये। क्रोध को वश में रखना, विवेक से मान को हटाना, सरलता औषधि से माया-शल्य का नाश करना, संतोष से लोभ का नाश करना, कषायों पर जय प्राप्त करना, विषयों को तज देना, ये समता-प्राप्ति के मुख्य साधन हैं।

समाप्त